स्वाधीनता आन्दोलन और उदारवादी एवं उग्रवादी
एक तुलनात्मक मूल्यॉकन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी में राजनीति विज्ञान
विषय में पी0-एच0डी0 की उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

वर्ष-2008

निर्देशक
डॉ0 भवानीदीन
रीडर-राजनीति विज्ञान
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
हमीरपुर(उ0प्र0)

प्रस्तुतकर्ता
श्याम नारायन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी

डा0 भवानीदीन
रीडर – राजनीति विज्ञान

राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय हमीरपुर, उ0प्र0

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री श्याम नारायन ने राजनीति विषय में पी–एच0डी0 की उपाधि हेतु मेरे निर्देशन में बी0यू0 के पत्रांक – बु0वि0 / प्र0 / शोध / 2005 / 2949–51 दिनॉक 06.04.2005 द्वारा पंजीकरण कराया था, इनके शोध का शीर्षक स्वाधीनता आन्दोलन और उदारवादी एवं उग्रवादी–एक तुलनात्मक मूल्याँकन था। श्री श्याम नारायन मेरे निर्देशन में आर्डिनेन्स द्वारा वांछित अवधि तक शोध–केन्द्र में उपस्थित रहे। इन्होनें शोध के सभी चरणों को अच्छी तरह परिश्रमपूर्वक सम्पन्न किया है।
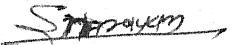
मैं इस शोध प्रबन्ध को राजनीति विज्ञान विषय में पी–एच0डी0 की उपाधि हेतु प्रस्तुत करने की सबल संस्तुति करता हूँ।

डॉ0 भवानीदीन
शोध निदेशक
राजकीय स्नातकोत्तकर महाविद्यालय,
हमीरपुर (उ0प्र0)

घोषणा

मैं घोषणा करता हूँ कि बु0वि0वि0 झाँसी के अर्न्तगत राजनीति विज्ञान विषय में पी–एच0डी0 की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध स्वाधीनता आन्दोलन और उदारवादी एवं उग्रवादीः एक तुलनात्मक मूल्यॉकन, मेरा मौलिक कार्य है। मेरे संज्ञान में प्रस्तुत शोध का अल्पांश अथवा अन्य किसी भी उपाधि के लिए प्रस्तुत नहीं किया गया है।

Snarayan

श्याम नरायन

आमुख

भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम के इतिहास का हर पन्ना इस तथ्य का गवाह है कि आजादी के संघर्ष के हर चरण में राष्ट्रधर्मियों की सहभागिता श्लाघ्य रही है। आजादी प्राप्ति के साधनों में भले ही भेद रहा हो किन्तु सभी स्वातन्त्र्यशूर एक लक्ष्यधर्मी रहे हैं। उन सभी का एक ही लक्ष्य रहा है– भारतीयो का प्राप्य–स्वाधीनता की प्राप्ति।

1885 से पूर्व के स्वातन्त्र्य संघर्ष पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि आँग्लवाद के विरूद्व बगावत और विद्रोह का सिलसिला तो 1757 की प्लासी पराजय के बाद से शुरू हो गया था, किन्तु 1857 के स्वातन्त्र्य संग्राम के अतिरिक्त उस काल के आंग्ल विरोधी प्रभावी पुरोधत्व की छाप नहीं छोड़ सके। सत्तावनी समर भले ही साफल्य के शिखर को न लॉघ सका हो किन्तु उसने ऑग्लवाद की चूले हिलाकर रख दी थी। उसने 19वीं सदी के छठवें तथा सातवें दशक से राष्ट्रीय समर को तब एक नया संबल मिला, जब देश में स्वामी विवेकानंद, तिलक, गोखले गांधी, पटेल, जवाहर लाल नेहरू तथा सुभाष चन्द्र बोस जैसे नर पुंगवो ने यहाँ जन्म लेकर स्वातन्त्र्य समर को एक नयी धार प्रदान की।

1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थाप्ना हुई, भले ही उसके नेपथ्य में आँग्ल संरक्षण एवं स्वार्थपरता का प्रश्न रहा हो, किन्तु भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन को कांग्रेस के रूप में एक बैनर अवश्य मिल गया था, जिससे आन्दोलन नियोजित होने लगा था।

इसमें कोई दो राय नहीं कि दादा भाई नौरोजी, महादेव गोविंद रानाडे, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता, बदरूद्दीन तैयब एवं गोपालकृष्ण गोखले जैसे उदारवादी नेताओं ने स्वतंत्रता की अलख जगाने में प्रभावी पहल की, उसका स्वरूप भले ही अलग रहा हो, 1905 से 1919 तक के स्वाधीनता आन्दोलन को लाल–बाल–पाल तथा अरविंद घोष जैसे उग्रवादी नेताओं का आलम्ब प्राप्त हुआ, उन्होनें स्वराजय की अवधारणा का प्रतिपादन किया, इस तरह 1885 से 1919 तक स्वातन्त्र्य संघर्षी फलक में उदारवादी तथा उग्रवादी अवदान का आरेख बहुत उत्तुंग रहा, जिसे विस्मृत नहीं किया जा सकता।

भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के इतिहास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि उदारवादी तथा उग्रवादियों ने आन्दोलन की अगुवायी करके उसे आधार भूमि प्रदान की, जिसे नकारा नहीं जा सकता, जहॉ एक ओर दादाभाई नौरोजी तथा गोखले जैसे उदारवादी नेताओं को स्वशासन का अग्रदूत कहा गया, वहीं स्वराज्य जैसे मंत्र के उद्गाता तिलक को कैसे भुलाया जा सकता है। कालान्तर में पराजपे आर0पी0, पर्वते टी0वी0, वाचा डी0 ई0, शास्त्री श्री निवास तथा साहनी टी0के0 ने गोखले जैसे उदारवादी राष्ट्रीय नेता के विचारों तथा कुलकर्णी एन0वी0, केलकर एन0वी0 तथा दिवाकर डी0वी0 ने तिलक के विचारों को कलम की नोक पर उतारा। इन अध्ययनों के तुलनात्मक निष्कर्षो से यह सुस्पष्ट होता है कि इन राष्ट्रवीरों पर एक सम्यक तुलनात्मक अध्ययन का अभी भी अभाव है। यह शोध प्रबंध उसी अभाव की पूर्ति का एक साधन है।

शोध प्रबन्ध के अध्ययन में मौलिक रचनाओं एवं सहायक गंथ्रो के अध्ययन का सहारा लिया गया है, इसमें तत्कालीन तथा अर्वाचीन जर्नल्स, पत्रिकाओं तथा समाचार पत्रों का भी अध्ययन कर संदर्भ प्रस्तुत किये गये हैं। यह शोध प्रबंध साक्षात्कार एवं पुस्तकालय अध्ययन पद्वति पर आधारित है। पूरे शोध प्रबन्ध को नौ अध्यायों में विभाजित किया गया है।

प्रथम अध्याय प्रस्तावना में उदारवादी तथा उग्रवादी आन्दोलन की पूर्व पीठिका को रेखांकित किया गया है। इस अध्याय में दोनों विचारधाराओं के अवदान के माहात्म्य को संक्षेप में स्पष्ट किया गया है।

दूसरे अध्याय में कांग्रेस की स्थापना में उदारवादी नेताओं के सहभाग का उल्लेख किया गया है। कांग्रेस के जन्म के पूर्ववर्ती संगठनों के स्थापन में दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा महादेव गोविंद रानाडे जैसे प्रमुख माडरेटों ने विभिन्न राजनीतिक संगठनों का गठन कर कांग्रेस के जन्म के लिए आवश्यक जमीन तैयार की। इस दृष्टि से बाम्बे एसोसियेशन, पूना सार्वजनिक सभा, इण्डियन एसोसियेशन तथा इण्डियन नेशनल कांफ्रेस नामक संगठनों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नींव तैयार की।

तीसरे अध्याय में स्वाधीनता आन्दोलन और उदारवादियों की विचारधारा, कार्य पद्वति तथा साधन का उल्लेख है। ब्रिटिश साम्राज्य के अर्न्तगत प्रशासन, न्याय तथा शिक्षा नामक तीन संस्थाओं के माध्यम से भारतीय उदारवाद को विकसित माना गया, जिस समय भारत में उदारवाद का उद्‌भव हुआ, उस काल में भारतीय विवेक के स्थान

पर शास्त्रगत थे । भारतीय समाज में विवेकवाद की इसी अनुमन्यता के आधार पर उदारवाद का श्री गणेश हुआ। उदारवादियों का क्रमिक राजनीतिक सुधारों पर अधिक बल रहता था, वे स्थानीय स्वशासन के पक्षधर थे, उनकी विचारधारा आवेदन–निवेदन पर आधारित रहती थी। उनका बिट्रिश न्यायप्रियता पर विश्वास था, वे ब्रिट्रिश राज्य को भारतीय संदर्भो में एक दैवीय वरदान मानते थे। उदारवादियों की कार्य पद्वति तथा साधनों में क्रमशः साम्राज्यवाद के आर्थिक विवेचन, प्रशासन, मानव अधिकार, भारतीय एकता, सांविधानिक सुधार, कानून तथा न्याय पर बल, शिक्षा, पुर्नजागरण एवं सांस्कृतिक राष्ट्रवाद जैसे बिन्दु समाहित थे।

चौथे अध्याय में स्वाधीनता आन्दोलन में, प्रमुख उदारवादी नेताओं का क्या अनुदाय रहा, का विवेचन किया गया है। इस अध्याय में भारतीय राजनीति के पितामह दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविंदरानाडे, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता तथा गोपाल कृष्ण गोखले जैसे प्रमुख नरमपंथी नेताओं के योगदान को विवेचित किया गया है। दादाभाई नौरोजी जिन्हें भारतीय राजनीति का प्रारंभिक मेरूदंड कहा जाता है, का उदारवादी आन्दोलन में विशेष योगदान रहा।

दादाभाई नौरोजी मे मात्र 15 वर्ष की आयु में राष्ट्रप्रेम की भावना जाग उठी थी। उन्होनें भारत तथा भारतेत्तर में राजनीतिक चेतना को जगानें में अहम् योगदान प्रदान किया, वे राजनीतिक सत्ता के नैतिक आधार के पक्षधर थे। उनकी ब्रिटिश न्यायप्रियता में आस्था थी किन्तु इतना सब होने के बावजूद उन्होनें निरंकुश साम्राज्यवाद का पुरजोर विरोध किया। उन्होनें स्वशासन तथा स्वराज्य की अवधारणा

भी रखी। उनकी अर्थशास्त्र पर विशेष पकड़ थी, उनके आर्थिक निर्गम के सिद्वान्त ने उस समय आर्थिक जगत में तहलका मचा दिया था। दादा भाई के बाद गोविंद रानाडे की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही, रानाडे गोखले के गुरू थे, इनका समाज सुधार आन्दोलन में अच्छा योगदान रहा। फिरोजशाह मेहता भी एक प्रमुख उदारवादी नेता थे। उन्हें बम्बई का बिना मुकुट का राजा कहा जाता था, मेहता भारत में स्वशासन के क्रमिक सुधार के पक्ष में थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी एक प्रतिभाशाली उदारवादी नेता थे। उन्हें भारत का ग्लैडस्टन कहा जाता था। वे एक प्रभावशाली वक्ता थे। उन्होनें जनता में राजनीतिक चेतना को उत्पन्न कर सारे देश को एक सूत्र में पिरोने का महत् कार्य किया। वे सांविधानिक पद्वति में आस्था रखते थे। गोपाल कृष्ण गोखले को उदारवादी आन्दोलन के आधार स्तंभ माने जाते थे। उनका सम्पूर्ण जीवन देश के लिए समर्पित रहा। उन्हें भले ही एक दुर्बल ह्दय उदारवादी नेता कहा गया हो किन्तु उस तथ्य मे पूर्ण सातत्य नही है। वे राजद्रोही न होकर राष्ट्रभक्त थे। उनका भी क्रमिक सुधारो पर विश्वास था।

पॉचवे अध्याय में स्वाधीनता आंदोलन में उग्रवादियों की विचारधारा, कार्यपद्वति तथा साधनों का उल्लेख किया गया है।

उग्रवादी मूलतः स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा तथा स्वराज्य की विचारधारा पर विश्वास रखते थे। वे निष्क्रिय प्रतिरोध को भी अपने पद्वति में समाविष्ट किये थे। वे उदारवादियों की आवेदन–निवेदन की नीति पर विश्वास नहीं करते थे। तिलक ने देशवासियों को स्वराज्य की विचार धारा से पूरी तरह से जोड़ा था।
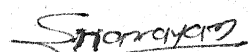
छठवें अध्याय में, स्वाधीनता आन्दोलन में प्रमुख उग्रवादी नेताओं का क्या योगदान रहा, को विवेचित किया गया है, उग्रवादी नेताओं में बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल तथा अरविंद घोष का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, बाल गंगाधर तिलक स्वराज्य के उद्‌गाता थे। उन्होने सारे देश को स्वराज्य का उपदेश करते हुए कहा था कि स्वराज्य आपका जन्मसिद्व अधिकार है। इसके साथ ही उन्होने स्वदेशी, बहिष्कार तथा शिक्षा को अपने मिशन के साधनों में शामिल कर भारत में पहली बार पूर्व स्वाधीनता की मांग की। लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल तथा अरविंद घोष ने तिलक का कन्धे से कन्धा मिलाकर साथ दिया, पंजाब केसरी लाला लाजपतराय ने भी उग्रवादी आन्दोलन के अग्रसारण में एक अगुवा की भूमिका निभायी। अरविंद घोष का राष्ट्रवाद के आध्यात्मीकरण के रूप में विशेष योगदान रहा।

सातवें अध्याय में उग्रवादियों ने स्वराज्य की अवधारणा का विस्तृत माहात्म्य बताते हुए, उससे आम जनता को जोड़ा। उग्रवादियों ने स्वराज्य की धारणा को अपने मिशन में अहम् स्थान प्रदान किया।

आठवें अध्याय में उदार वादियों तथा उग्रवादियों के अनुदाय की तुलनात्मक विवेचना की गयी है। स्वाधीनता आन्दोलन में उदारवादी तथा उग्रवादी नेताओं ने यथासामर्थ्य सहभाग किया, उनकी उपादेयता को भुलाया नही जा सकता, पद्वति तथा साधनों का अन्तर भले ही रहा हो किन्तु लक्ष्य दोनों का एक था– भारत के लिए आजादी की प्राप्ति। उदारवादी, उग्रवादियों की तुलना में शान्त प्रिय थे, साथ ही उनका ब्रिटिश राजभक्ति में विश्वास था, किन्तु उग्रवादियों के विचारों में साम्राज्यवाद के लिए कोई स्थान नहीं था। वे भारत के लिए पूर्ण स्वाधीनता से कम किसी भी बिन्दु पर सहमत नही थे।

नवें अध्याय में निष्कर्ष में 1885 से 1919 तक लगभग साढ़े तीन दशकों में उदारवादी तथा उग्रवादी नेताओं ने स्वाधीनता आनदोलन मे जो प्रतिभाग किया, उसे सिलसिलेवार साररूप में स्पष्ट किया गया है।

शोध प्रबन्ध के सम्पूर्ण कलेवर तथा पूर्णता के लिए मैं सबसे पहले अपने शोध निदेशक, डॉ भवानीदीन, रीडर– राजनीति विज्ञान, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय हमीरपुर का ह्दयानवत् हूँ, जिनके सुलभ, समुचित तथा गुणात्मक निर्देशन में शोध जैसा दुरूह कार्य पूर्ण हुआ। तत्पश्चात मैं अपने तात श्री भोलाराम एवं माँ श्रीमती शिवरानी का कृतज्ञ हूँ, जिनके शुभाशीष का आलम्ब मेरे साथ सदैव रहा, मैं डॉ0 देवेन्द्र नारायण सिंह, प्रवक्ता– राजनीति विज्ञान, अपने चाचा डॉ0 बलराम, रीडर भूगोल, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय हमीरपुर का भी ह्दय से आभारी हूँ, जिनके सत्त तथा सारल्य सहयोग से मै अपने दुरूह कार्य को अन्तिम लक्ष्य तक ले जा सका। मैं अपनी चाची श्रीमती रजनी प्रजापति का भी उपकृत हूँ, जिन्होनें मुझे समय–समय पर उत्साहित कर मेरे अभीष्ट तक पहुँचनें में मेरी मदद की। ।

Snarayan
श्याम नारायन

अनुक्रम

प्रथम - अध्याय

१

प्रस्तावना

भारत की स्वतंत्रता के पतन पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि उसकी स्वाधीनता साबल्य की शिकार नहीं हुयी अपितु वह आपसी वैमनस्यता की वीथिका में बाट जोहती हुई जब–जब उसे अपनों का समवेत् समर्थन एवं संघर्षी सहयोग प्राप्त नहीं हुआ तब तक नैराश्य की निशा में निढाल होकर सतही सियासत के समक्ष समर्पण को विवश हुई। इतिहास साक्षी है कि भारत की आजादी को वाह्य आक्रान्ता एक दिनी चालों की चौपड़ में प्रलोभन के पांसो को फेंककर बाजी कभी भी अपने पक्ष में नहीं कर सके। पुरातन से अधुनातन तक भारत की आजादी के अवसान के कथानाक का कलेवर एक ही प्रकार का रहा है।

प्राचीन भारत मे जहाँ राजा–महाराजा वैमनस्य की वसुधा में आपसी विद्वेश का बीजवपन करने एवं युद्वोन्माद में जुटे रहे, वहीं मुगल तथा आँग्लकाल में भी भारत की अस्मितायी–भित्तियों को देशद्रोहियों तथा भितरघातियों ने भूमिसात किया, इससे यह स्पष्ट होता है कि भारत को जब–जब दासता का दंश झेलना पड़ा, तब–तब उसके मूल में कहीं न कहीं आपसी राग–द्वेष एवं बिखराव का प्राबल्य रहा। 16वीं सदी तक भारत के वाणिज्यिक विकास का विश्व में कोई सानी नही था किन्तु जैसे ही इसके व्यापारिक उत्कर्ष को वैदेशिक नजर लगी, वैसे ही भारत के पराभव की पूर्व पीठिका बनने लगी। डचों, पुर्तगालियों, फ्रासिंसियों एवं गोरों ने भारत में व्यापारिक जड़े जमाना शुरू किया।

गोरों ने अपनी छ्दम चालों द्वारा वैदेशिक कम्पनियों को भारत से चलता कर दिया। यहाँ पर अंग्रेजो ने बम्बई, कल्कत्ता एवं मद्रास जैसे बड़े शहरों में मुगल सम्राटो से तिजारत के बहाने कोठियाँ स्थापित करने की अनुमति लेकर भारत में दूरन्देशी नीति को अमलीजामा पहनाने का ताना–बाना बुनना प्रारम्भ किया। 11वीं सदी से ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में छ्दमवेशी नीति की घेरेबन्दी करना शुरू कर दिया था, कालान्तर में कम्पनी 1757 के प्लासी–युद्ध में अपने काले–कारनामों के कारण सफल हो गयी, देश द्रोहियों ने देशघात कर देश को 1757 के प्लासी–पराजय का तोहफा दिया, लार्ड क्लाइव ने देश में दासता की दागबेल लगाकर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव रखी। 1757 में प्लासी विजय के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारत में दमनात्मक नीति का दौर शुरू हुआ।

भारतीयों के प्रति आँग्ल–दमन जब सीमातीत होने लगा तब भारतीय पौरूषी–राख की परत के नीचे जो चेतना–चिंगारी दबी पड़ी थी, वह गोरों के प्रतिकार के रूप में ऊष्मित और ऊर्जित होने लगी, इतना ही नहीं वह शौर्याग्नि प्लासी–पराजय के बाद विभिन्न–विद्रोहों के रूप में परिलक्षित होने लगी। 18वीं सदी भारत के लिए हितकारी रही। इस सदी ने भारतीय दासता के दर्द को समझा। 18वीं और 19वीं सदी नें भारत के मुक्ति संग्राम को नई दिशा देने में प्रभावी पहल की, 18वीं सदी के 8वें दशक में माँ भारती को एक ऐसा पुरोधा प्राप्त हुआ, जिसने भारतीय पुनर्जागरण को नव आलम्ब प्रदान किया। उस महान सुधारक सूरमा का नाम राजाराम मोहनराय था, जिन्होनें ब्रह्मम समाज

की स्थापना कर उसके माध्यम से तत्कालीन भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों को उन्मीलित करने की प्रभावी पहल की। राय के समकालीन संघर्षियों में केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द विद्यासागर, दयानंद सरस्वती एवं विवेकानंद का कम महत्वपूर्ण योगदान नहीं था। गोरों के एक सदी के दमन एवं उत्पीड़न ने 1757 के प्रथम स्वातन्त्रय संघर्ष की आधारभूमि तैयार की, प्रथम स्वातन्त्रय संग्राम से गोरों को यह आभास हो चुका था कि अब भारतीयों को बहुत दिनों तक दबा कर रखा नहीं जा सकता है, उनकी सुसुप्त चेतना जाग्रत हो उठी है। 1857 की क्रांति–कुक्ष ने लगभग एक दशक के अन्तराल में उन नर–नाहरों को जन्म दिया, जिन्होनें अपने पौरूष के बल पर भारत के स्वातन्त्रय् संघर्ष के ग्राफ को बहुत आगे तक बढ़ाया।

19 वीं सदी के 3वें, 5वें, 7वें तथा 9वें दशक देश के लिए बहुत महत्वपूर्ण रहें, ये दशक देश के नवोन्मेषक दशक कहे जा सकते हैं। इन्हीं दशकों में दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बालगंगाधर तिलक, दयानंद सरस्वती, विवेकानंद, गांधी जी सरदार वल्लभ भाई पटेल एवं पं0 जवाहरलाल नेहरू जैसे महान राष्ट्रवादियों का अवतरण आजादी के आरेख के अग्रसारण के लिए बहुत उपयोगी सिद्व हुआ।

1757 की प्लासी–पराजय के बाद से ही भारतीय वीरत्व–बारूद के विस्फोट होनें शुरू हो गये थे, किन्तु तब तक के भारतीय आजादी के संघर्ष का दायरा बहुत सीमित था, तब भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन कुछ गिने–चुने लोगो एवं कुछ सीमा तक मध्यम वर्ग तक सीमित था। भारत की मुक्ति का

संघर्ष धारदार रूप इसलिए प्राप्त नहीं कर पा रहा था कि आन्दोलन को संग्राम के लिए कोई बैनर प्राप्त नहीं था। 19वीं सदी के तीसरे दशक ने भारतीय खुशियों की झोली में एक ऐसी अनुपम भेंट डाल दी, जिसने अपने चमक–चेतना से सुसुप्त भारतीय चिन्तन को आलोकित कर दिया, उस नर श्रेष्ठ का नाम दादा भाई नौरोजी था, दादा भाई नौराजी का जन्म (1825) उस काल में हुआ था, जब 1757 की प्लासी पराजय के बाद भारत दासता के सात दशकों के दंश को झेल चुका था। वे अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बल पर ही कालान्तर में सारे देश के दादा अर्थात पितामह कहलाये।

दादा भाई नौराजी ने सार्वजनिक जीवन की दहलीज में स्त्री शिक्षा में सुधार के रूप में पहला कदम रखा। उन्होनें 1851 में रहनुमाए मजद यासन सभा नामक पहली संस्था स्थापित की। उसके बाद दादाभाई ने "ज्ञान प्रसारक मण्डली" नामक संगठित संस्था बनायी। उसके बाद दादाभाई नौराजी ने 26 अगस्त 1852 को "बम्बई एसोसियेशन" नामक पहली राजनीतिक संस्था गठित की, तत्पश्चात दादाभाई ने चार बार ब्रिटेन की यात्रा कर वहाँ पर लंदन इण्डियन सोयायटी एवं "ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन" नामक संस्थायें गठित कर वहाँ पर भी भारतीयों के पक्ष को उजागर किया। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि दादाभाई नौरोजी ने भारतीय स्वातन्त्रय् संघर्ष को "बम्बई एसोसियेशन" नामक पहली राजनीतिक संस्था को गठित कर एक बैनर प्रदान किया। इस तरह दादाभाई नौरोजी को राजाराम मोहनराय के बाद दूसरा उदारवादी आदोंलनकारी कहा जा सकता है।

दादाभाई के बाद जिन उदारपंथी नेता ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को सर्वाधिक योगदान प्रदान किया, उनमें से सुरेन्द्र नाथ बनर्जी का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी का उस काल में (1848) जन्म हुआ था, जब सत्तावनी समर के प्रारंभ होने में मात्र लगभग एक दशक शेष था। ब्रह्ममसमाजी नेता केशवचन्द्र सेन और विधवा विवाह आन्दोलन के जनक ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने सुरेन्द्रनाथ के भावी जीवन की आधार भूमिका बनायी, तदोपरान्त सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन जैसे संगठन के द्वारा उदारवादी आन्दोलन को और आगे बढ़ाया और प्रमुख वैधानिक आन्दोलनकारी बने।

दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता तथा व्योमेश चन्द्र बनर्जी के बाद उदारपंथी आन्दोलन के अप्रतिम नेता गोपाल कृष्ण गोखले को माना जा सकता है, गोपाल कृष्ण गोखले को उदारवादी आन्दोलन का केन्द्रीय नेता माना जाता है। गोखले का उस काल में जन्म हुआ था, जब भारत में 1857 के प्रथम स्वातन्त्रय संघर्ष को हुए नौ वर्ष बीत गये थे। गोखले एक सामान्य परिवार में पैदा हुए थे। उनके शैक्षिक जीवन में गणित के प्राध्यापक प्रो0 हाथार्नवेट तथा आँग्ल भाषा के प्राध्यापक प्रो0 वर्ड्सबर्थ का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। चिपलूणकर शास्त्री द्वारा स्थापित न्यु इंग्लिश में सहायक अध्यापक के रूप में गोखले ने अपने भावी जीवन की शुरूआत की। गोखले को चिपलूणकर तिलक तथा आगरकर का सानिध्य प्राप्त हुआ, किन्तु उन्हे आगरकर ने सर्वाधिक प्रभावित किया। आगरकर ने ही गोखले को दक्कन एजूकेशन सोसायटी की आजीवन सदस्यता के लिए तैयार किया। वे सोसायटी के 1886 में आजीवन सदस्य बन गये। उनके भावी जीवन की आधार शिला में एक और कड़ी जुड़ गयी।

गोपाल कृष्ण गोखले ने एक अध्यापक के रूप में अपने जीवन की शुरूआत की किन्तु लक्ष्यनिष्ठ होने के कारण उन्होनें जीवन में कई सोपानों को पार किया और विकास के उत्तुंग शिखर तक पहुँचे। गोखले ने अध्यापन काल में उदारवाद का गहन अध्ययन किया। गोखले ने न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे से राजनीतिक दीक्षा ली। रानाडे बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे। उनका जादुई व्यक्तित्व था। वे महाराष्ट्र की अनेक संस्थाओं के जन्मदाता थे। रानाडे में निर्भिकता और निष्ठा का अद्भुत समन्वय था। वे संत राजनीतिज्ञ थे। उन्हें एक संयत क्रांतिकारी भी कहा जा सकता है। गोखले ने 1887–1892 तक अनवरत रानाडे से राजनीति के टिप्स सीखे। इस तरह रानाडे ने गोखले के सार्वजनिक जीवन की पूर्व पीठिका बनायी। गोखले ने लोक सेवा के आस्था और अध्वसाय जैसे गुण रानाडे से सीखे। गोखले ने रानाडे की जीवन पद्वत्ति को अपने लिए आचरण संहिता बना लिया था।

गोखले के राजनीतिक जीवन की यात्रा सार्वजनिक सभा के मंत्री के रूप में प्रारम्भ हुई, जबकि दक्कन एजूकेशन सोसायटी के कुछ सदस्यों ने गोखले के मंत्री बनाने का प्रभावी विरोध किया, उनका मानना था कि इससे गोखले का अध्यापकीय जीवन प्रभावित होगा। इसी प्रश्न को लेकर तिलक तथा गोखले के बीच मतभेद की बुनियाद पड़ी थी। 31 अक्टूबर 1896 को रानाडे तथा उनके सहयोगियों ने 'दक्कन सभा' नामक नई संस्था गठित कर ली। गोखले उसके मंत्री बन गये। दक्कन सभा के मूलमंत्र थे–उदारतावाद तथा संयताचार। गोखले की कार्य पद्वति की कर्मभूमि में यहीं पर उदारवाद का बीज पड़ा और कालान्तर में उन्हें उदारवादी आन्दोलन का प्रमुख आन्दोलनकारी नेता माना गया। 1897 में गोखलें को वेल्बी आयोग के समक्ष गवाही देने के

लिए इंग्लैण्ड बुलाया गया था, उन्होनें दक्कन सभा का प्रतिनिधित्व किया था। गोखले के अतिरिक्त सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, डी0ई0 वाचा था सुब्रह्मणयम अय्यर भी बुलाये गये थे। गोखले ने आयोग के समक्ष प्रभावी विचार रखे और वे एक ही छलांग में राष्ट्रीय स्तर के व्यक्ति बन गये।

तिलक और गोखले 1889 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में प्रविष्ट हुए, तबसे लेकर जीवनान्त तक गोखले कांग्रेस से जुड़े रहे। वे 1905 में बनारस कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष रहे। गोखले ने देश ही नहीं विदेश अर्थात इंग्लैण्ड में भी भारतीय पक्ष को मजबूती के साथ रखा। वे कुल मिलाकर सात बार इंग्लैण्ड गये। गोखले ने इंग्लैण्ड में "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ब्रिटिश समिति" तथा उसके पत्र 'इण्डिया' को सक्रिय बनाने में प्रभावी योगदान प्रदान किया।

गोखले ने 12 जून 1905 को "भारत सेवक समाज" की स्थापना की, इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य था भारतीय युवाओं में देश प्रेम की भावना जगाना। गोखले ने अपने तीन साथियों के साथ स्वंय को 'भारत का सेवक' घोषित किया। यह संस्था गोखले के जीवन की उपलब्धियों में से एक प्रमुख थी। गोखले ने अपने जीवन के सांध्य काल में लगभग 6 वर्ष पूर्व जो वैधानिक सुधारों की योजना प्रस्तुत की गयी थी, उसे उनकी मृत्यु के बाद अगस्त 1917 में "गोखले का राजनीतिक वसीयतनामा" कहा गया। इस तरह यह कहा जा सकता है कि 45 वर्ष की उम्र में ही गोखले ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए जो योगदान प्रदान किया, उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता, उनके अप्रतिम अनुदान के कारण ही यह काल उदारवादी काल कहलाया और गोखले इस युग के आन्दोलन के प्रमुख नेता कहलाये।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन 1885 से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस नामक संस्था के बैनर तले पल–बढ़ रहा था। उसे सबसे पहले उदारवादी आलम्ब प्राप्त हुआ। 1885 से 1905 तक का युग उदारवादी कहलाया। उसके बाद इस आदोंलन को आगे बढ़ाने में लाल–बाल–पाल की विशेष भूमिका रही। बाल गंगाधर तिलक उग्रवादी आन्दोलन के एक प्रमुख स्तम्भ थे। बाल गंगाधर तिलक का जन्म उस काल में हुआ था, जब भारतीयों के प्रति आंग्ल उत्पीड़न दमन की दीवारों को लॉघ चुका था। सत्तावनी समर के ठीक एक वर्ष पहले तिलक का अवतरण हुआ था। मराठी धरती में तिलक के जन्म के पूर्व महात्मा ज्योतिबा फुले, चिपलूणकर शास्त्री तथा महादेव गोविंद रानाडे राजनीतिक चेतना की अलख जगाने में अग्रणी भूमिका निभा रहे थे। लाड़–प्यार में तिलक को 'बाल' नाम से पुकारा जाता था। । बाल के बाल जीवन को सबसे पहले माता–पिता ने प्रभावित किया, उन्हें पिता से संस्कृत तथा गणित एवं माँ से धार्मिक भावना के संस्कार लभ्य हुए।

तिलक के शिक्षाकाल में आगरकर और चिपलूणकर का सानिध्य प्राप्त हुआ और वे इनसे काफी प्रभावित भी हुए। तिलक ने बी0ए0 एवं कानून में स्नातक होने के बाद ही अपने भावी जीवन की रूप रेखा तयकर ली थी। 1829 में तिलक ने अपने दो मित्रों के साथ 'न्यु इंग्लिश स्कूल' की स्थापना करके अपने आगामी जीवन की आधारशिला रखी, तत्पश्चात 1881 में मराठा और केसरी पत्रों के प्रकाशन द्वारा उन्होनें जनचेतना को धार देना शुरू किया और वे शीघ्र ही शिक्षा, पत्रकारिता एवं समाज सुधार के क्षेत्र में अपनी प्रभावी पहचान बनाने लगे। तिलक ने 1889 में कांग्रेस में प्रवेश कर अपने राजनीतिक जीवन की शुरूआत की, तिलक का मत था कि कोई आन्दोलन तब तक

प्रभावी एवं परिणामजनक नहीं हो सकता, जबतक कि उसे जनसमर्थन न मिले इसलिए उन्होनें जन चेतना को जाग्रत करना अपने जीवन का मिशन बनाया।

उस समय तिलक ने मराठा तथा 'केसरी' नामक समाचार पत्रों के माध्यम से आँग्ल सरकार के काले–कारनामों को उजागर कर तत्कालीन भारतीय राजनीति को एक नई दिशा प्रदान की। इससे भारतीय समाज को एक नया आयाम मिला। बाल गंगाधर तिलक ने महाराष्ट्र में गणपति तथा शिवाजी उत्सव के आयोजन के माध्यम से नई पीढ़ी की भावनाओं को प्रक्षालित किया।

तिलक ने इन उत्सवों के माध्यम से राजनीतिक आन्दोलन के लिए आधार भूमि तैयार की, उनकी सोच थी कि बिना आन्दोलन के आँग्लों का सामना नहीं किया जा सकता है, 1870 में पुणे में स्थापित 'सार्वजनिक सभा' लोक शिकायतों एवं समस्याओं को सरकार तक पहुँचाती थी। इस सभा की बागडोर रानाडे तथा गोखले जैसे नरमपंथी नेताओ के हाथ में थी, बाद में इसमें तिलक समर्थकों का आधिपत्य हो गया। सरकार इस संस्था से बहुत घबराती थी। 1896 के प्लेग–काल में आँग्ल सरकार बहुत उदासीन रही, इस दुर्भिक्ष की वस्तुस्थिति का आकलन मराठा और केसरी जैसे राष्ट्रवादी समाचार पत्रों ने जी खोलकर किया। गोरी सरकार ने सार्वजनिक सभा की मान्यता को खत्म कर दिया, उस काल मे कांग्रेस पर नरम पंथ का बोलबाला था, जो स्मृति पत्र, सभायें, सम्मेलन तथा प्रतिनिधिमण्डल के माध्यम से संवैधानिक उपायों द्वारा आन्दोलन का अग्रसारण करता था, जिसे उग्रवादी आन्दोलनकारी राजनीतिक भिक्षावृत्ति के नाम से पुकारते थे।

बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय और विपिनचन्द्रपाल ने उग्रवादी आन्दोलन के साधनों में स्वदेशी, शिक्षा और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार को प्रमुखता प्रदान की, तिलक ने स्वराज्य का उद्‌घोष करते हुए कहा कि "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, मैं इसे लेकर ही रहूँगा।" 1890 से लेकर 1897 तक तिलक के जीवन के सात वर्ष बहुत ही निर्णायक रहे, इन वर्षो में ही तिलक ने अपने को एक राष्ट्रीय स्तर के नेता के रूप में स्थापित किया, 1882 से लेकर जीवन के सांध्यकाल तक तिलक लोकसेवी रहे।

तिलक सामाजिक स्वाधीनता से पहले राजनीतिक स्वाधीनता के पक्षधर थे किन्तु वे सामाजिक क्षेत्र में टिकाऊ सुधार चाहते थे। तिलक कांग्रेस के जुझारू स्वरूप के पक्षधर थे। बंग-भंग आन्दोलन में तिलक की भूमिका प्रभाव रही। तिलक ने बंगाल-विभाजन का पुरजोर विरोध किया था। स्वदेशी, स्वावलम्बन तथा बहिष्कार आन्दोलन के अगुवा होने के कारण तिलक लोक विश्रुत हो गये। उन्हें दिल्ली कांग्रेस-अधिवेशन में छात्रों ने मानपत्र भेंट किया था। इस तरह तिलक जनता के लोकमान्य हो गये। जनता ने ही उन्हे लोकमान्य की उपाधि से विभूषित किया था, जो उनके लिए सर्वोच्च पुरस्कार था।

इस तरह से यह स्पष्ट होता है कि स्वातन्त्रय संघर्ष के लिए उदारवाद तथा उग्रवाद नामक दोनो विचारधाराओं ने बहुत हद तक साधनों के भिन्न-भिन्न उपक्रमों की आधार भूमि प्रस्तुत की। दोनो ही युग अपनी अंलग-अलग पहचान रखते है, 1885 से 1919 तक लगभग साढ़े तीन दशकों के आन्दोलन

को नरम तथा उग्रपंथी वैचारिकी पर कसने से यह सुस्पष्ट होता है कि अभी भी दोनों विचार धाराओं का समवेत एवं सम्यक अध्ययन करना अवशेष है, साढ़े तीन दशकों के अन्तराल में उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं से जुड़े नेताओं का सांगोपांग अनुशीलन के कई पक्ष अब भी अनछुए है, जिनके अभाव में दोना प्रकार के चिन्तनों का परितुलनात्मक मूल्यांकन संभव नही है, इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत स्वाधीनता आन्दोलन और उदारवादी एवं उग्रवादी: एक तुलनात्मक अध्ययन नामक शीर्षक का चयन किया गया है।

द्वितीय - अध्याय

२
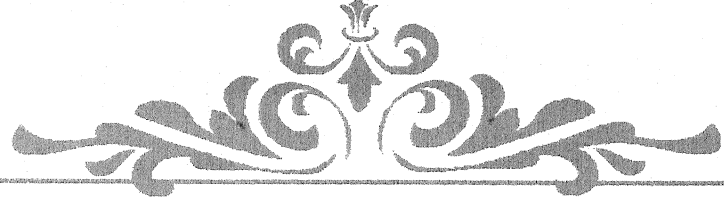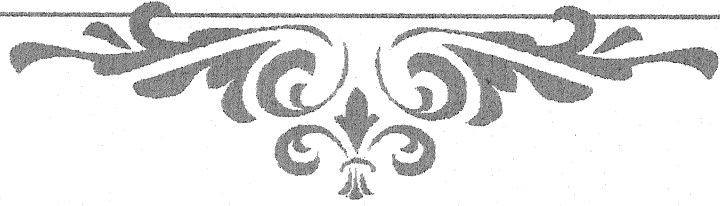
कांग्रेस की स्थापना और उदारवादियों की स्वातन्त्र्यधर्मी पहल

1757 में प्लासी पराजय के बाद से ही भारत के हलक के नीचे यह वैचारिक ग्रास उतर नही रहा था कि भारत की जीत मुहाने से क्यों लौट गयी, तथ्यात्मक अन्वेषण से यह बात उजागर हुई कि प्लासी में गोरों ने बारूद और बाहुबल से नहीं अपितु फूट डालो और राज्य करो की नीति से 1757 में बाजी मारी। उस पराजय के बाद से भारतीयों में यह बात घर कर गयी थी कि गोरों के दमन की ईट का जवाब भारतीय पौरूष के पत्थर से तभी दिया जा सकता है, जब तक लोक जीवन में जागरूकता उद्‌भुत न हो तथा संघर्ष के लिए एक बैनर न मिले। 1757 के बाद एक सदी तक उस काल के राष्ट्रीय नेताओं ने भारत में संघर्षी जमीन तैयार की। कई विद्रोह एवं आन्दोलन भी हुए किन्तु वे अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं कर सके, लेकिन 1857 में जो प्रथम स्वातन्त्रय संघर्ष हुआ, उसे भारतीयों की एक जुटता की मिसाल अवश्य कहा जा सकता है।

18वीं और 19वीं सदी के क्रमशः 3वें, 5वें, 6वें, 7वें, 8वें, तथा 9वें दशक देश के लिए वरदान सिद्व हुए, जब माँ भारती के कुछ लाल दासता से बेहाल मातृभूमि को बन्धन मुक्त कराने के महाप्रयास किये।[1]

इस दृष्टि से प्रथमतः दो राष्ट्रवादी नेताओं या नायकों का नाम लिया जा सकता है, जिन्होनें लोक चेतना को जाग्रत करने के लिए राजनीतिक संगठन खड़ा करने में अहम् योगदान प्रदान किया। क्रमशः वे दोनों विभूतियाँ थी— दादाभाई

[1] सूरज नारारण मुंशी, स्वतंत्रता के मार्गदर्शक दादाभाई नौराजी, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1996 पृ0सं0 81

नौरोजी ओर सुरेन्द्र नाथ बनर्जी । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म एक दिनी प्रयासों का परिणाम नहीं था; अपितु इसके जन्म के पूर्व जन्मेत्तर संगठनो या कांग्रेस के पूर्ववर्ती संगठनों का उल्लेख करना प्रांसगिक होगा, जिन्होनें कांग्रेस के जन्म के लिए आवश्यक जमीन तैयार की।[1]

कांग्रेस के जन्म के पूर्ववर्ती संगठन

19वीं सदी पुर्नजागरण की सदी कही जाती है, इस शताब्दी में पुनरूत्थान का पुर जोर प्रयास किया गया, सामाजिक क्षेत्र में सुधार के भी प्रभावी प्रयास किये गये किन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सांगठनिक उद्भव ने भारत के सामाजिक तथा राजनीतिक जागरण में अहम् भूमिका निभायी। इसके साथ ही भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनों के लिए कांग्रेस जैसी अखिल भारतीय संस्था के लिए आधार भूमि भी तैयार की, कांग्रेस के पूर्ववर्ती जिन संगठनो ने कांग्रेस की पूर्व पीठिका बनायी उनमें से कुछ का यहाँ विवेचन सामायिक रहेगा।

लैण्ड होल्डर्स सोसायटी

लैण्ड होल्डर्स सोसाइटी एक ऐसा संगठन था, जिसने तत्कालीन भारतीय राजनीति का प्रतिनिधित्व किया, यह मूल रूप से एक जमीदारों का संगठन था, यह संगठन जमीदारों के साथ–साथ भारत के अन्य वर्गो के हितों की रक्षा करने का भी प्रयास करता था।[2]

इस संगठन का उद्देश्य था कि भारत में भारतीयों को वही अधिकार मिले, जो इंग्लैण्ड में वहाँ के नागरिकों को प्राप्त था। इस सोसायटी की स्थापना 1838 में हुयी थी ; यह संगठन भारतीय अंग्रेजो और भारतीय जमींदारो का एक संयुक्त

[1] अयोध्या सिंह, भारत का मुक्ति संग्राम, मैकमिलन इण्डिया लि0, दिल्ली, 1987, पृ0सं0 78।
[2] वही, पृ0सं0 78 ।

संगठन था। इस संगठन के भारतीय नेता प्रसन्न कुमार ठाकुर तथा अंग्रेज नेता थियोडोर डिकेस थे, वैसे सोसाइटी के ये नायक अंग्रेज परस्त थे। इस सोसायटी की एक शाखा लंदन में भी स्थापित हुई थी। इस सोसायटी ने अपने आपको भारत तक ही सीमित नही रखा था। सोसायटी के कार्य क्षेत्र से गोरे भयभीत हो गये थे और अंग्रेज सरकार को यह परामर्श दिया था कि इस संगठन के समानान्तर एक अन्य संगठन खड़ा कर दिया जाये। यह सोसायटी दो वर्षो तक बहुत क्रियाशील रही।

बंगाल ब्रिटिश इण्डिया सोसायटी

लैण्ड होल्डर्स सोसायटी के बाद जिस संगठन ने सांगठनिक दायित्व को सर्वाधिक निभाया, उनमें से एक नाम बंगाल ब्रिटिश इण्डिया सोसाइटी का है। इस सोसायटी की स्थापना 20 अप्रैल 1843 को कलकत्ते में हुई थी, यह भी भारतीयों तथा गैर सरकारी गोरो का एक मिला जुला संगठन था। इस सोसायटी के अध्यक्ष जार्ज थांपसन थे तथा प्यारी चन्द्र मित्र इसके सचिव थे ; वैसे यह संगठन एक उच्च मध्यम वर्गीय संगठन था। इस सोसायटी को भारत का पहला राजनीतिक संगठन कहा जाता है, इसी ने भारतीयों को पहला राजनीतिक पाठ पढ़ाया था।[1]

ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन

लैण्ड होल्डर्स सोसायटी एवं बंगाल ब्रिटिश सोसायटी के निष्क्रिय होने पर 31 अक्टूबर 1851 को ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन का गठन हुआ। इस संगठन के अध्यक्ष राजा राधाकान्त देव तथा सचिव देवेन्द्र नाथ ठाकुर चुने गये, इस संगठन ने राष्ट्रीय स्तर पर आन्दोलन चलाने का प्रयास किया, जिसमें इसे कुछ सीमा तक सफलता भी प्राप्त हुई। इस संघ के उद्देश्य में भारतीय प्रशासन के लोकतंत्रीकरण

---

[1] अयोध्या सिंह, भारत का मुक्ति संग्राम, मैकमिलन इण्डिया लि0, दिल्ली, 1987, पृ0सं0 81।

तथा भारतीय प्रतिनिधित्व की मांग शामिल थी। 1857 के प्रथम स्वातन्त्रय संघर्षकाल मे इसका कोई महत्व नही रहा। विद्रोहोपरान्त 1854 से लेकर 1875 तक के सिविल सर्विस आन्दोलन के अग्रसारण में इस संगठन का विशेष योगदान रहा। इस संघ ने भारत का राष्ट्रीय मंच बनने का प्रयास किया, भारतीय स्वातन्त्रय संग्राम को एक सीमा तक बैनर देने का प्रयत्न किया।[1] धीरे–2 इस संघ में असंतोष फैलने लगा, इससे मध्यम वर्ग अलग होने लगा, 1880 तक यह संघ कुछ जमींदारों का एक संगठन बनकर रह गया।

बाम्बे एसोसियेशन

यह संगठन 26 अगस्त 1852 को अस्तित्व में आया, यह धनिकों, व्यापारियों तथा मध्यम वर्ग का संगठन था, जगन्नाथ शंकर सेठ इसके अध्यक्ष थे, भाऊ दाजी तथा विनायक राव जगन्नाथ इस संघ के संयुक्त सचिव चुने गये थे। इस संघ ने भी चार्टर आन्दोलन को आगे बढ़ाने का प्रयास किया था, बम्बई राजनीति मे इस संगठन मे अहम भूमिका निभायी थी, पाँच वर्षो तक यह संगठन विशेष रूप से सक्रिय रहा, 1867 में यह संगठन पुनः सक्रिय हुआ, दादा भाई नौरोजी का इस संगठन के प्रभावी बनाने में अहम योगदान रहा। इस संगठन की कुछ शाखायें भी स्थापित हुई। 1873 के बाद यह संगठन फिर न पनप सका। [2]

लंदन के भारतीय संगठन

कांग्रेस के पूर्ववर्ती संगठनों के स्थापना काल में ही लंदन में भारतीयों के तीन संगठन स्थापित हुए थे, वे थे– 1862 में गठित लंदन इण्डियन कमेटी, 1865 की लंदन इण्डिया सोसाइटी और 1866 में बनी ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन, लंदन

---

[1] बी0बी0 मजूमदार, इण्डियन पोलिटिकल एसोसियेशन एण्ड रिफार्म ऑफ लेजिस्लेचर, कलकत्ता, 1865ए पृ0सं0 333, 339 ।

[2] बाम्बे एसोसियेशन की वार्षिक साधारण सभाओं की रिर्पोट, 1869–1873 ।

इण्डिया कमेटी सीमित प्रतिनिधित्व के कारण कुछ ही भारतीयों से प्राप्त समर्थन के कारण आगे न बढ़ सकी, लंदन इण्डिया सोसाइटी में ब्रिटेन वाले भारतीय व्यापारियों तथा भारतीयों का प्रतिनिधित्व था । इस संगठन का उद्देश्य सोसाइटी के माध्यम से भारतीय जनता की वस्तुस्थिति से लंदन की जनता को अवगत कराना था। इस सोसायटी में केवल भारतीयों को ही सदस्यता प्राप्त हो सकती थी। इस सोसाइटी के अध्यक्ष दादा भाई नौरोजी और फिरोज शाह मेहता जैसे नामचीन लोग इसके सदस्य थे। यह सोसायटी केवल डेढ़ वर्षो तक ही सक्रिय रह सकी और बाद में ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन से मिल गयी।[1]

ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन में भारतीयों, गैर भारतीयों, सरकारी तथा गैर सरकारी उन सभी व्यक्तियों को इसमें सदस्यता प्राप्त करने का अधिकार था, जो भारत के साथ हमदर्दी रखते थे। दादाभाई नौरोजी के विचारों पर यह संघ आधारित था, नौरोजी को ब्रिटिश न्यायप्रियता पर विश्वास था। उनका मानना था कि यदि ब्रिटिश जनता तथा वहाँ की संसद को भारत की सही जानकारी दे दी जायेगी तो वे भारत के साथ न्याय अवश्य करेंगें। इसी दृष्टि से वे भारत के कई शहरों में इसकी शाखायें खोलना चाहते थे किन्तु ऐसा हो न सका। 1883 तक यह संघ पूरी तरह निर्जीव हो गया।[2]

पूना सार्वजनिक सभा

इस सभा की स्थापना 02 अप्रैल 1870 को हुयी थी, इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य जनता तथा आँग्ल सरकार के बीच मध्यस्थता करना था, इस सभा का वही सदस्य बन सकता था, जिसके आवेदन पत्र में 50 वयस्कों के हस्ताक्षर होते थे। इस तरह इस संगठन को जनप्रतिनिधि सभा बनाने का प्रयास किया गया।

---

[1] रूल्स ऑफ दि लंदन इण्डिया सोसायटी, 1865, पृ0सं0 223 ।

[2] एस0आर0 मेहरोत्रा, दि इमर्जेन्स ऑफ दि इण्डिया नेशनल कांग्रेस, दिल्ली, 1971, पृ0सं0 .223 ।

1871 तक इस सभा के सदस्यों की संख्या बढ़कर 140 हो गयी, जो लगभग 17000 व्यक्तियों के प्रतिनिधि थे । इस सभा के सदस्यों को इस आशय की शपथ लेनी पड़ती थी कि वह संस्था के प्रति निष्पक्षता से काम करेगा। इस सभा के सक्रिय सदस्य थे– वासुदेव जोशी, एस0एच0 साढे तथा एस0 एच0 चिपलूणकर।[1] 1871 में इस सभा से महादेव गोविंद रानाडे भी जुड़ गये, इससे सभा की सक्रियता को नया आयाम मिला। रानाडे की सादगी एवं प्रतिभा को देखकर लोग उन्हें सार्वजनिक काका कहते थे।[2] इस सभा ने 1875 में आँग्ल सरकार के समक्ष एक बहुत बड़ी मांग उठायी कि कम से कम 16 भारतीय प्रतिनिधि ब्रिटिश संसद में लिये जायें। पूना सार्वजनिक सभा ने बम्बई प्रेसीडेन्सी में राजनीतिक चेतना को उद्भूत करने मे सबसे अहम् भूमिका निभायी।[3]

इस सभा ने 1878 में अपना एक त्रैमासिक पत्र भी निकाला, जिसमें रानाडे के तर्कसंगत एवं करारी चोट करने वाले लेख होते थे। इस सभा ने कई उतार–चढ़ाव देखें, यह अनवरत काम करती रही।

इण्डियन एसोसियेशन

इस संघ की स्थापना कलकत्ता में 26 जुलाई 1876 को हुई थी, हालांकि ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन तथा इण्डियन लीग इस संगठन के पहले काम कर रहे थे किन्तु फिर भी इन दोनो संगठनों से वांछित परिणाम प्राप्त न होने के कारण इस नये संगठन की जरूरत पड़ी।

एक बड़ी जनसभा के बीच कलकत्ता के अल्बर्ट हाल में इण्डियन एसोसियेशन की स्थापना हुयी, इस संघ के सचिव आनंद मोहन बोस तथा उपसचिव के रूप में ए0सी0 सरकार एवं जे0 एन0 विद्याभूषण चुने गये बाद में

---

[1] 1871 में प्रकाशित पूना सार्वजनिक सभा का संविधान और नियम, पृ0सं0 1–5 ।
[2] एस0 आर मेहरोत्रा, दि इमर्जेन्स ऑफ दि इण्डियन नेशनल कांग्रेस, दिल्ली 1971, पृ0सं0 194 ।
[3] वही , पृ0सं0 195 ।

कलकत्ता के प्रमुख बैरिस्टर मनमोहन घोष को इस संगठन का अध्यक्ष चुना गया । इस संगठन के नाम पर 28 सदस्यीय कार्यकारिणी समिति में काफी बहंस हुयी थी, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर तथा द्वारिकानाथ मिश्र ने इसका नाम बंगाल एसोसियेशन रखने की कोशिश की थी किन्तु वे सफल न रहे, आनंद मोहन बोस तथा सुरेन्द्र नाथ बनर्जी आदि इसे अखिल भारतीय संगठन बनाना चाहते थे, राष्ट्रीय आन्दोलनकारियों को इस संगटन का बैनर देना चाहते थे। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने इस संगठन के उद्देश्य के बारे में इस प्रकार प्रकाश डाला था–

- राष्ट्रीय जनमत की एक शक्तिशाली संस्था बनाना।
- भारतीय जातियों तथा जनता में राजनीतिक एकता कायम करना।
- हिन्दू–मुस्लिम एकता को बढ़ाना।
- सार्वजनिक आन्दोलनों के प्रति लोकरूचि पैदा करना।[1]

इण्डियन एसोसियेशन ने बड़ी सतर्कता के साथ आगे बढ़ना प्रारम्भ किया था, इस संघ ने उन संवेदनशील मुद्दो को उठाया था, जिन पर अधिकतर भारतीय एकमत थे। इस संगठन ने सिविल सर्विस आन्दोलन, वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट, आर्म्स एक्ट तथा इलबर्ट बिल आन्दोलन में प्रभावी भूमिका निभायी थी। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने उत्तर भारत का भ्रमण कर लाहौर, मेरठ, इलाहाबाद, कानपुर तथा लखनऊ में इण्डियन एसोसियेशन की शाखायें स्थापित की थी।

इस संघ का लक्ष्य पुनीत था। एल्बर्ट बिल के समर्थन और विरोध मे जो संघ बने उससे भारतीयों के दिमाग में एक बात अवश्य बैठ गयी थी कि कोई भी स्वातन्त्रय संघर्ष बिना एकता एवं एक बैनर के जीता नहीं जा सकता। भारतीयों को यूरोपियन एवं ऐंग्लों इण्डियन के संघ से उनकी वैचारिकी को नई दिशा मिली।

---

[1] एस0के0बोस, आधुनिक भारत के निर्माता, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार नई दिल्ली, 2006, पृ0सं0 29 ।

यूरोपियन एण्ड ऐग्लों इण्डियन डिफेंस एसोसियेशन के मिथ्या प्रचार का खण्डन करने के लिए मार्च 1884 में 'इण्डियन यूनियन' नामक संस्था स्थापित की गयी, जिसके अध्यक्ष थे – उमेश चन्द्र बनर्जी

इण्डियन नेशनल कान्फ्रेस

बहुत दिनों से भारत मे एक केन्द्रीय राजनीतिक संगठन की स्थापना पर बल दिया जा रहा था। लैण्ड होल्डर्स सोसाइटी तथा ब्रिटिश–इण्डियन सोसायटी ने इस दिशा में सार्थक प्रयास किये थे, एक पृष्ठ भूमि बनायी थी। 1870 के बाद भारतीय राजनीतिक चेतना का ग्राफ बढ़ने लगा था, यही कारण था कि 1876 में गठित राजनीतिक संगठनो का नाम क्षेत्रीय न रखकर भारतीय रूप दिया गया, जैसे सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने 1876 में गठित राजनीतिक संघ का नाम इण्डियन एसोसियेशन रखा, क्योंकि वे उसे राजनीतिक आन्दोलन का केन्द्रीय रूप देना चाहते थे।[1]

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी तथा आनंद मोहन बसु ने देश के प्रमुख संघो तथा व्यक्तियों के पास राष्ट्रीय सम्मेलन में सहभागी होने के लिए निंमत्रित किया, जिसकी तिथि 29 व 30 दिसम्बर 1883 को निर्धारित की गयी। उस सम्मेलन में कई मांगो को रखा गया हालांकि यह राष्ट्रीय सम्मेलन सफल तो नहीं हो सका, फिर भी इसका अपना एक अलग महत्व है।

इस कांफ्रेस के माध्यम से सभी राष्ट्रीय नेताओं को एक मंच पर लाने का प्रयास किया गया था, जिसे एक अखिल भारतीय स्तर के एक संगठन के निर्माण की दिशा में पहला कदम कहा जाता है। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने नवम्बर 1885 में दूसरी इण्डियन नेशनल कांफ्रेस के आयोजन हेत विभिन्न संगठनों के पदाधिकारियों एवं नामचीन व्यक्तियों के पास निमंत्रण पत्र भेजे । कलकत्ता में 25 दिसम्बर 1885

---

[1] एस0 आर मेहरोत्रा, दि इमर्जेन्स ऑफ दि इण्डियन नेशनल कांग्रेस, दिल्ली 1971, पृ0सं0 356 ।

को कांफ्रेस प्रारंभ हुई। इसी बीच मि0 हयूम तथा उसके मित्रों की ओर से नेशनल यूनियन की ओर से बम्बई में इण्डियन नेशनल कांफ्रेस का आयोजन किया गया था किन्तु सुरेन्द्र नाथ बनर्जी तथा उनके मित्रों से इस आयोजन को छिपाकर रखा गया था। बनर्जी तथा उनके सहयोगियों की कलकत्ता कांफ्रेस की जब सब तैयारी पूर्ण हो गयी तो हयूम के मित्र उमेशचन्द्र बनर्जी ने सुरेन्द्र नाथ बनर्जी से उनकी कांफ्रेस को स्थगित करने तथा अपनी कांफ्रेस में शरीक होने का प्रस्ताव रखा, जिसे बनर्जी आदि ने खारिज कर दिया, तब ह्यूम तथा उनके साथियों ने सम्मेलन के नाम तथा तिथि दोनों में परिवर्तन कर 28–30 दिसम्बर कर दिया। 1) कलकत्ता के दूसरे सम्मेलन को कई संगठनो का सहयोग प्राप्त था।[1]

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

कांग्रेस के पूर्ववर्ती संगठनो की अवधारणा से यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की आधारभूमि इन्हीं संगठनों की स्थापना ने बना दी थी। कांग्रेस की आधारशिला रखे जाने के पूर्व राष्ट्रीय आन्दोनल का स्वरूप बदल रहा था, सारा देश एक अखिल भारतीय स्तर का संगठन चाहता था, आन्दोलन केवल मध्यम वर्ग तक सीमित न रहकर वह व्यापक हो रहा था, किसान सशस्त्र संघर्ष कर रहे थे, आन्दोलन में जन सहभाग हो रहा था।

सारे देश में एक भावना तो जाग्रत हो रही थी कि स्वातन्त्रय संघर्ष के लिए एक संगठित केन्द्रीय संगठन होना चाहिये। दूसरी तरफ भिन्न–भिन्न संघो द्वारा आन्दोलनों के संचालन से शक्ति का क्षरण हो रहा था, एक सर्वमान्य संगठन या राष्ट्रीय स्तर के संगठन से ही आजादी के संघर्ष को एक राष्ट्रीय आवाहन प्राप्त हो सकता था।

---

[1] अयोध्या सिंह, भारत का मुक्ति संग्राम, मैकमिलन इण्डिया लि0, दिल्ली, 1987, पृ0सं0 118।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म को लेकर मन भिन्नता है, इस संगठन को लेकर यहाँ दोनों प्रकार की विचारधाराओं का उल्लेख करना समीचीन होगा।

कांग्रेस एक अनुसमर्थित संस्था

कांग्रेस की स्थापना को लेकर पहला पक्ष यह था कि यह संगठन आँग्ल पोषित है, इसकी स्थापना ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के लिए एक अभयदीप के रूप में की गयी है। इसका जन्म सरकारी अधिकारियों द्वारा अनुसमर्थित संस्था के रूप मे हुआ था। इस सबंध में अधोलिखित तर्क दिये जाते हैं–

1. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक ए0ओ0 ह्यूम माने जाते हैं, जो भारतीय सिविल सेवा में थे। ह्यूम ने साम्राज्यियों के हितो की रक्षा के लिए कांग्रेस की स्थापना में बहुत रूचि ली थी।[1]
2. कांग्रेस की स्थापना के पूर्व भारत में असंतोष बहुत फैला हुआ था, हयूम इस स्थिति से परिचित थे, उन्हे यह भय सता रहा था कि कहीं भारत में 1857 के स्वातन्त्रय संग्राम की पुनरावृत्ति न हो जाय, आँग्ल शासन को क्रांति से बचाने के लिए एकमात्र एक ही उपाय दिखायी पड़ रहा था कि भारत में एक ऐसी राष्ट्रीय संस्था हो, जिसके बैनर तले वैधानिक आदोंलन चल सके।

   सर विलियम वेडरवर्न ने भी इस बात पर बल दिया था कि भारत में बढ़ते असंतोष के ग्राफ को देखते हुए ब्रिटिश साम्राज्य के हित या सुरक्षा के लिए सेफ्टी वाल्व की आवश्यकता है और कांग्रेस से बढ़कर अन्य कोई दूसरा सेफ्टी वाल्व हो नही सकता। इस तरह के मत की पुष्टि लाला लाजपत राय ने भी की।

---

[1] गोविंद राम वर्मा, भारतीय राजनैतिक व्यवस्था, मैकमिलन इण्डिया लि0, नई दिल्ली 1977, पृ0सं0 18।

3. 1889 की कांग्रेस की रिपोर्ट ने भी इस तथ्य की पुष्टि की थी कि कांग्रेस की स्थापना के बाद ब्रिटिश भारत में क्रांति का खतरा टल गया है और आन्दोलन का स्वभाव वैधानिक हो गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा की दृष्टि से हुई।

4. कांग्रेस की स्थापना होने के बाद जब स्वतः कांग्रेस आँग्ल सरकार की आलोचना करने लगी तो कांग्रेस का पक्ष पोषण करने वाले स्वंय उसकी आलोचना करने लगे, लार्ड डफरिन, जिन्होनें कांग्रेस की स्थापना का स्वागत किया था, ने कांग्रेस को ''सूक्ष्म अल्पसंख्यक वर्ग'' के नाम से सम्बोधित किया। इन तथ्यों से भी इस बात पुष्टि होती है कि कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश साम्राज्य के हित के लिए हुई थी। [1]

5. रजनी पामदत्त जैसे विचारकों का यह मत रहा है कि कांग्रेस की स्थापना ब्रिटिश सरकार की निर्धारित गुप्त योजना के फलस्वरूप हुई थी। इन बिन्दुओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि कांग्रेस की स्थापना के मूल मे कहीं न कहीं आँग्ल–समर्थन एवं हितवर्धन अवश्य था।

कांग्रेस एक अनुसमर्थित संस्था नही

कांग्रेस के जन्म के पीछे एक तथ्य यह भी है कि वह केवल आँग्ल पोषित संस्था नहीं थी और न ही वह सरकारी अधिकारियों की देन थी, कांग्रेस के गठन के पीछे केवल आंग्ल साम्राज्यवाद का हितरक्षण अन्तर्निहित नही था। कांग्रेस की स्थाप्ना के मूल में अधोलिखित धारणा को नकारा नही जा सकता है–

---

[1] सी0एफ0ऐण्ड्रज एवं गिरिजा के0 मुखर्जी, दिराइज, एण्ड ग्रोथ आफ कांग्रेस इन इण्डिया, मीनाक्षी प्रकाश, मेरठ, 1967, पृ0सं0 01–42 ।

1. इसके गठन को लेकर जब यह कहा जाता है कि इसकी स्थापना केवल ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के लिए की गयी है तो इसका एक अर्थ यह भी निकलता है कि इसकी स्थापना राजनीतिक चेतना को दबाने के लिए की गयी थी, जबकि ऐसा नही है, कांग्रेस के गठन का उद्देश्य राष्ट्रीय जाग्रति को दबाना नही था अपितु इसके संस्थापको का लक्ष्य था कि राष्ट्रीय आन्दोलनों को वैधानिक तरीके से चलाया जाये क्योंकि इस संदर्भ में विलियम वेडर बर्न का विचार था कि कांग्रेस की कार्यशैली इंग्लैण्ड के विपक्षी दल की तरह होनी चाहिये। [1]

2. कांग्रेस के गठन को लेकर यह कहना भी प्रांसगिक नही है कि ह्यूम अंग्रेज थे, इसलिए वे ऐसी संस्था का गठन कैसे कर सकते थे, जिसके द्वारा ब्रिटिश हित न हो सके, ह्यूम साहब उदारवादी विचारधारा के समर्थक थे, इस कारण उनकी सोच थी कि भारत में ब्रिटिश शासन का स्वभाव प्रजातांत्रिक हो ।

3. कांग्रेस के संदर्भ में की गयी आलोचना के इस तर्क में भी दम नही है कि कांग्रेस की स्थापना का एक मात्र उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा करना था। कांग्रेस के वर्ष 1888 के अधिवेशन में इस बात पर बल दिया गया था कि ब्रिटिश साम्राज्य एक स्वेच्छाचारी सरकार की भूमिका निभा रहा है, दूसरी तरफ उस अधिवेशन में इस बिन्दु पर भी बल दिया गया था कि देश में राजनीतिक चेतना के उद्भूत के लिए प्रचार–प्रसार की महती आवश्यकता है ताकि हर नागरिक राष्ट्र के संघर्ष में सहभाग कर सके।

4. यह कहना भी समोचीन है कि कांग्रेस की स्थापना में मात्र ए0ओ0 ह्यूम का योगदान है, ह्यूम साहब के अलावा उन उदारवादी भारतीय विभूतियों की

---

[1] गोविंद राम वर्मा, भारतीय राजनैतिक व्यवस्था, मैकमिलन इण्डिया लि0, नई दिल्ली 1977, पृ0सं0 19।

कांग्रेस के गठन में केन्द्रीय सहभागिता रही है, जिन्होनें पूरे मनोयोग से उसकी पृष्ठभूमि तैयार की थी, उन नेताओं में दादा भाई नौरोजी, व्योमेश चन्द्र बनर्जी फिरोजशाह मेहता, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी एवं महादेव गोविंद रानाडे इत्यादि का नाम उल्लेखनीय रहा है। इन राष्ट्रधर्मियों का कांग्रेस की स्थापना का उद्‌देश्य गोरी सरकार की रक्षा करना नही था अपितु उस बैनर के द्वारा आजादी की लड़ाई को अग्रोन्मुख करना था। भारतीय इतिहास वेत्ता डा0 ईश्वरी प्रसाद का भी इसी तरह का विचार है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना आँग्ल साम्राज्य की सुरक्षा के लिए नही हुयी थी अपितु उसको भारतीय हित के लिए स्थापित किया गया था।[1]

कांग्रेस की स्थापना के पूर्व तत्कालीन उदारवादी राष्ट्रीय नेता उस समय के परिवेश से इस निष्कर्ष पर पहुँच गये थे कि भारतीयो के हितो की रक्षा तब तक नही हो सकती है जब तक कि कोई एक राष्ट्रीय बैनर न हो, उसके लिए वे महसूस करते थे कि कोई एक अखिल भारतीय स्तर का संगठन होना चाहिये। उस समय दादा भाई नौराजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता तथा महादेव गोविंद रानाडे जैसे प्रमुख स्वातन्त्रय धर्मियों ने राजनीतिक संगठनो को गठित कर भारत की स्वतंत्रता की आवाज को उठाने लगे थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद उससे जुड़े उदारवादी देश धर्मियों ने कांग्रेस के बैनर के नीचे स्वातन्त्रय संघर्ष को अग्रोन्मुख किया। इस दिशा में दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, महादेव गोविंद रानाडे एवं गोपाल कृष्ण गोखले के स्वातन्त्रय धर्मी योगदान को उल्लेखनीय कहा जा सकता है।

---

[1] गोविंद राम वर्मा, भारतीय राजनैतिक व्यवस्था, मैकमिलन इण्डिया लि0, नई दिल्ली 1977, पृ0सं0 19।

निष्कर्ष

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के पूर्व भारत में सांगठनिक चेतना ने कहीं न कहीं एक पूर्व पीठिका तैयार करने में अहम भूमिका अवश्य ही निभायी थी। इस सातत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि कांग्रेस के जन्म के मूल में कांग्रेस की पूर्ववर्ती संगठनों की प्रभावी पहल रही। यह कहना भी पूरी तरह से सच नही है कि कांग्रेस के जन्म के मूल में गोरों की समझी–बूझी चाल थी। उन्होनें इसे अपने लिए एक अभयदीप के रूप में ही संगठित किया था। कांग्रेस की स्थापना के पूर्व भारत में सांगठनिक जाग्रति उत्पन्न हो चुकी थी। उसी जागरण की जमीन में कांग्रेस का जन्म हुआ था। इसमें सत्यांश हो सकता है कि कांग्रेस के अस्तित्व में आने में कहीं न कहीं गोरो का कुछ सहभाग रहा हो। यह तो हो सकता है कि वायसराय डफरिन और अंग्रेज अधिकारी ए0ओ0ह्यूम का काग्रेस का समर्थन रहा हो किन्तु यह कहना पूरी तरह समाचीन नही है कि क्रांग्रेस ब्रिटिश सरकार की देन थी।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि कांग्रेस तत्कालीन उदारवादी आन्दोलनकारियों के लिए एक महत्वपूर्ण बैनर सिद्व हुआ था । कांग्रेस के जन्म तथा इसके माध्यम से आन्दोलन के अग्रसारण में दादाभाई नौरोजी, बनर्जी बन्धुओं, महादेव गोविंद रानाडे तथा गोपाल कृष्ण गोखले के अनुदाय को विस्मृत नही किया जा सकता।

तृतीय - अध्याय
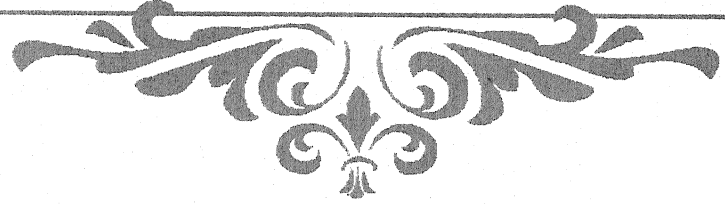
स्वाधीनता आन्दोलन और उदारवादियों की विचारधारा कार्य पद्धति एवं साधन

भारतीय स्वाधीनाम आन्दोलन मात्र किसी एक योगदान की देन नहीं है, इसका उर्ध्वगामी आरेख किसी एक चरण की चौखट से होकर नहीं गुजरा है, अपितु भारतीय स्वातन्त्र्य संघर्ष ने कई पढ़ावों को पार किया है। यह कहा जा सकता है। कि 1857 के प्रथम स्वातन्त्र्य संघर्ष के बाद स्वाधीनता आन्दोलन को कांग्रेस के रूप में एक बैनर तले पहला आलम्ब नरमदली युग के रूप में मिला।

भारत में उदारवादी विचार को पश्चिम–प्रसूत माना जाता है। भारतीय उदारवादी चिन्तन एवं आन्दोलन मूलतः तीन रूपों में परिलक्षित हुआ– यथा – उदारवाद एक विवकेजन्य विचारधारा है, भारतीय समाज के पुनर्निर्माण के आधार पर बल तथा उदारवाद द्वारा भारत के धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में स्वतंत्रता के प्रगतिशील आंदर्श की वकालत पर बल देना।[1]

ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत प्रशासन, न्याय तथा शिक्षा नामक तीन संस्थाओं के माध्यम से भारतीय उदारवाद को विकसित माना गया। जिस समय भारत में उदारवाद उद्भूत हुआ, उस समय भारत में व्यक्ति विवेक के स्थान पर शास्त्रों से शासित था किन्तु पराधीन काल में उसे पश्चिम से संसदीय प्रभुसत्ता, विधि की समानता और नागरिक अधिकारों की सुरक्षा जैसी अवधारणा प्राप्त हुई। भारतीय समाज में विवेकवाद की इसी अनुमन्यता के आधार पर उदारवाद का शिलान्यास हुआ। राजाराम मोहनराय इस विवेकवादी अवधारणा के अग्रदूत बने। राजा राम मोहन राय को ही प्रथम उदारवादी नेता माना गया। उन्हें उदारवाद का जनक कहा

---

[1] सतीश कुमार, उदारवाद और गोपाल कृष्ण गोखले, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1983, पृ0सं0–6।

गया। उन्हें बंगाल के पुनर्जागरण का पुरोधा तथा भारतीय पुनर्जागरण का पिता भी कहा गया।[1] उनके चिन्तन का आलम्ब विवेकवादी मानवतावाद रहा।

राजाराम मोहनराय की जहाँ एक और यूरोपीय व्यक्तिवाद तथा उदारवाद पर आस्था थी, वहीं उन्हें परातन भारतीय परम्पराओं की उन प्रवृत्तियों को अंगीकार करने में कोई गुरेज था, जिनका आधार विवेकवाद था। राजाराम मोहनराय के चिन्तन को भारतीय पुनर्जागरण की एक उपलब्धि भी माना गया। वे वस्तुतः पूरब–पश्चिम की अवधारणा के बीच एक सेतु तुल्य थे। वे उदारवाद को साधन तथा साधक दोनों ही रूप में मानते थे, जहाँ राजाराम मोहनराय ने तत्कालीन भारतीय समाज में व्याप्त पुरातन रूढ़ियों का खण्डन करने के लिए उदारवादी विचारों का एक साधन के रूप में प्रयोग किया, वहीं उन्होंने समानता तथा स्वतंत्रता जैसी अवधारणाओं की स्थापना के लिए उदारवादी विचारों को एक साध्य के रूप में प्रयोग किया।

उन्होंने भारतीय चिन्तन में ऐतिहासिक, वैज्ञानिक तथा विश्लेषात्मक पद्धति के प्रयोग पर सर्वाधिक बल दिया, वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय चिन्तन में व्यक्ति की महत्ता पर प्रकाश डाला। भारतीय उदारवाद के विकास की दिशा में उनका यह पहला कदम था। राजा राम मोहन राय यह जानते थे कि शिक्षा ही एक ऐसा माध्यम है, जिससे स्वतंत्रता एवं समानता की अवधारणा से अवगत हुआ जा सकता है। इस कारण राय ने सर्वप्रथम पश्चिमी शिक्षा से भारत को परिचित कराया। उन्होंने बंगाल में हिन्दू कालेज की स्थापना में सरकार का सहयोग किया, कालान्तर में यह अंग्रेजी शिक्षा का संस्थान उदारवादी बंगाली नेताओं के लिए प्रथम पाठशाला बना।[2]

---

[1] एस0के0बोस, आधुनिक भारत के निर्माता, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, 2006, पृ0सं0–70 ।

[2] सतीश कुमार, उदारवाद और गोपाल कृष्ण गोखले, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1983, पृ0सं0–08।

राजाराम मोहनराय में यह सोच–सामर्थ्य थी कि राजनीतिक तथा आर्थिक सुधारों के लिए सामाजिक सुधार ही पूर्व पीठिका तैयार कर सकता है। राज ने उदारवादी प्रवृत्तियों में समानता तथा आत्म निर्णय जैसी मान्यताओं का समावेश किया। उन्होंने नारी स्वातन्त्र्य, पश्चिमी शिक्षा के संयोजन तथा जाति विहीन समाज के निर्माण पर बल देकर प्रथम समाज सुधारक का दर्जा हासिल किया। राजा का व्यक्तित्व किसी भी धार्मिक पूर्वाग्रह की कैद नहीं था। उनकी सभी धर्मो में समान आस्था थी। वे सच्चे अर्थो में एक धर्म–कोष तुल्य थे। उन्हें धर्म सुधार आन्दोलन का जनक कहा गया।

उदारवादियों की विचारधारा :

भारत में प्रशासन, न्याय और शिक्षा जैसी तीन संस्थाओं के माध्यम से ही उदारवाद का उद्‌भव हुआ। हर उदारवादी आन्दोलनकारी इनसे किसी न किसी रूप में सन्नद्ध अवश्य रहा। भारतीय उदारवाद का इन तीन संस्थाओं के आधार पर अध्ययन करना समीचीन होगा। भारतीय उदारवादियों की विचारधारा पश्चिम की तरह विवेकवादी एवं धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण पर अवलम्बित थी। वे सामाजिक न्याय पर आस्था रखते थे। उदारवादियों ने सर्वप्रथम जातिवाद, साम्प्रदायिकता एवं अस्पृश्यता जैसी सामाजिक कुरीतियों पर सबसे पहले प्रहार किया। उन्होंने सामाजिक सुधार पर सर्वाधिक ध्यान दिया।

उदारवादियों ने फ्रांसीसी तथा पश्चिमी समाज की अवधारणा को अपना आदर्श बनाया। उदारवादियों ने राजा की परम्परा के अन्तर्गत सामाजिक न्याय के लिए आन्दोलन चलाया, जिसका नेतृत्व महादेव गोविन्द रानाडे ने किया। उदारवादियों

ने विशेष तौर पर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद पर अधिक बल दिया। वे लोक स्वतंत्रता के आयोजन पर भी खास ध्यान देते थे। उन्होंने व्यक्ति को केन्द्रीय महत्व प्रदान किया। उदारवादियों ने अभिव्यक्ति एवं संगठन की आजादी पर बहुत बल दिया। उन्होंने प्रेस की स्वतंत्रता पर होने वाले हर हमले का प्रतिकार किया। उदारवादियों की सोच सराहनीय थी, वे एक ऐसे संगठित समाज तथा राष्ट्र का निर्माण करना चाहते थे, जिसके निवासी स्वाधीन देशों के मध्य अपने को गौरवान्वित महसूस कर सके। वे व्यक्ति के स्थान पर एक ऐसे विधि मूलक शासन की स्थापना चाहते थे, जिससे सामाजिक वैषम्य समाप्त हो सके। वे एक ऐसी प्रतिनिधिमूलक राष्ट्रीय व्यवस्थापिका स्थापित करना चाहते थे, जो राष्ट्र की सर्वोपरि राजनीतिक संस्था हो। एक जनतत्रात्मक राष्ट्र का निर्माण उदारवादियों का एक प्रमुख राजनीतिक लक्ष्य था। इस उददेश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने क्रमिक राजनीतिक सुधारों की आवाज उठायी। स्थानीय स्वायत्त सरकारों का गठन उदारवादियों का दूसरा लक्ष्य था। वे स्थानीय सरकार के प्रभावी निर्माण के समर्थक थे। उदारवादी स्थानीय सरकारों को अधिक अधिकार तथा आर्थिक अनुदान दिये जाने के पक्ष में थे।[1]

उदारवादियों का मानना था कि स्थानीय स्वशासन राष्ट्रीय स्वशासनकी पृष्ठभूमि हैं। वे इसे राजनीतिक शिक्षा का एक कारगर साधन मानते थे। इसके बावजूद वे ब्रिटिश सम्पर्क के प्रति वफादार थे। उदारवादी भारत में ब्रिटिश राज्य को एक दैवीय अनुकम्पा मानते थे। उनकी सोच थी कि गोरों ने भारत को आधुनिक सामाजिक एवं राजनीतिक मूल्यों से परिचित कराया। उदारवादी ब्रिटिश शासन को भारत के हित में समझते थे वे राजनीतिक क्षेत्र में गोरी सत्ता की उपयोगिता को

[1] सतीश कुमार, उदारवाद और गोपाल कृष्ण गोखले, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1983, पृ0सं0–24, 25।

अंगीकार करते थे। आँग्ल साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य की विचारधारा उदारवादियों का एक स्थिर लक्ष्य था। उदारवादियों ने जहाँ एक ओर राजनैतिक क्षेत्र में आँग्ल साम्राज्यवाद की उपादेयता अंगीकृत की, वहीं दूसरी ओर आर्थिक क्षेत्र में उसे उपयोगी नहीं माना, उदारवादियों ने यह भी माना कि गोरे भारत को एक ऐसे कृषि परक राष्ट्र के रूप में देखना चाहते हैं जो मात्र ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चामाल तैयार कर सके। इसके साथ ही उन्होंने गोरों पर भारत पर उन्मुक्त व्यापार नीति थोपने का भी आरोप लगाया। इससे भारत की गणना सर्वाधिक गरीब राष्ट्रों में से एक राष्ट्र के रूप में होने लगी। इस तरह उदारवादियों के आन्दोलन के विषय के अन्तर्गत भारत का आर्थिक पुननिर्माण एक बिन्दु बन गया।[1]

आँग्ल शासन की त्रुटिपूर्ण आर्थिक नीति पर सबसे पहले दादा भाई नौरोजी तथा महादेव गोविन्द रानाडे ने आक्षेप लगाये। तत्पश्चात जोशी, दत्त तथा गोपाल कृष्ण गोखले ने उसी नीति का अनुगमन करते हुए भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद की आधारशिला रखी। नौरोजी ने आर्थिक अभि निष्क्रमण का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उदारवादियों ने भारत की सम्पत्ति को भारत से बाहर भेजने की आँग्ल नीति का विरोध किया। इस सन्दर्भ में उन्होंने सैन्य व्यय में कभी, लोक एवं सैनिक सेवाओं के भारतीयकरण, राष्ट्रीय शिक्षा के आयोजन तथा कल्पांवपरक आर्थिक नीति की माँग की।

---

[1] सतीश कुमार, उदारवाद और गोपाल कृष्ण गोखले, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1983, पृ0सं0–26।

उदारवादियों की कार्य पद्धति :

उदारवादी नेताओं के चिन्तन तथा दर्शन में उदारवाद तथा मितवाद का मिश्रण था। प्रमुख उदारवादी नेता गोपाल कृष्ण गोखले के विचारों में उदारवादी तथा मितवाद के दर्शन किए जा सकते हैं। उदारवाद तथा मितवाद उदारवादियों के सिद्धान्त थे। उनका विचार था कि उदारवादि की भावना में धार्मिक मत–मतान्तरों से मुक्ति, मनुष्य तथा मनुष्य के बीच न्याय भावना रखने वालों के प्रति आस्था, शासको के प्रति वैधानिक स्वीकारोक्ति, कानून के दायरे में व्यक्तियों के समानता के अधिकार की माँग सन्निहित होना चाहिए। उदारवादियों का यह विचार था कि मितवाद में उन आदर्शो तथा लक्ष्यों के लिए व्यथित नहीं होना चाहिए, जिनकी प्राप्ति संभव नहीं है। उन आदर्शों की ओर झुकाव होना चाहिए जिन्हें स्वभाविक रूप से प्राप्त किया जा सके।[1]

1805 से 1905 तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में उन्हीं नेताओं का प्रभुत्व रहा, जो उपर्युक्त विचारों से सहमत थे, इस कारण इस काल को उदारवादी काल के रूप में जाना गया। इस नरमदली राष्ट्रीयता को दादा भाई नौरोजी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी महादेव गोविन्द रानाडे, गोपालकृष्ण गोखले तथा फिरोजशाह मेहता जैसे विश्रुत नेताओं ने अपना नेतृत्व प्रदान किया। इन विभूतियों का तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक क्षेत्र में प्रभावी योगदान रहा। भारत के पुनर्जागरण में इन्हीं प्रारम्भिक नेताओं का अधिक हाथ रहा। कांग्रेस के जन्म में भी इन्हीं की भूमिका रही। उदार राष्ट्रवादियों का प्रारम्भिक काल उदार राष्ट्रवादी के रूप में जाना जाता है, उदारवादी

---

[1] डा0 अमरेश्वर तथा डा0 राम कुमार अवस्थी, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, नई दिल्ली, रिसर्च प्रकाशन, 1997, पृ0सं0 – 114, 115।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को किसी भी रूप में क्रांतिकारी रूप नहीं देना चाहते थे। उनका मानना था कि भारतीय राष्ट्रीय चेतना का उदय आँग्ल सम्पर्क से हुआ है, उन्होंने ही पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति का पुट प्रदान कर भारत में लोकतंत्र एवं स्वतंत्रता की भावना पैदा की है। इस कारण उदारवादियों की सोच थी कि राजनीतिक तथा प्रशासनिक क्षेत्र में स्वाभाविक रूप से धीरे–धीरे सुधार लाने का प्रयास किया जाय। उदारवादियों ने आन्दोलन के क्रांतिकारी रूप के स्थान पर क्रमिक सुधारों में विश्वास प्रकट किया।[1]

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में बहुत ही सधे हुए शब्दों में नरमपंथी दृष्टिकोण के आधार पर आख्यान एवं अनुरोध को व्यक्त किया गया। व्याख्यानों एवं प्रस्तावों में किसी भी क्रांतिकारी जोश के दर्शन नहीं होते थे। उदारवादियों के जो भी प्रार्थना पत्र एवं प्रस्ताव दिये जाते थे, उनमें आग्रह एवं अनुरोध का ही समावेश रहता था। उदारवादियों की कार्य पद्धति को जानने के लिए अधोलिखित बिन्दुओं पर प्रकाश डालना प्रासंगिक होगा–

साम्राज्यवाद का आर्थिक विवेचन :

उदारवादी नेताओं में कई ऐसे उदारवादी नेता थे; जिन्हें अर्थशास्त्र का बारीकी ज्ञान था। यही कारण था कि उनके द्वारा समय–समय पर महत्वपूर्ण आर्थिक नीतियों के विरोध में प्रभावशाली तर्क रखे गये। उस काल में उदारवादियों को भारत में बढ़ती गरीबी की फिक्र थी। दादा भाई नौरोजी ने अपने भाषणों में यह संकेत किया था कि भारतीय मात्र परजीवी दास हैं। उनकी स्थिति अमेरिकी गुलामों से भी

[1] डा0 अमरेश्वर तथा डा0 राम कुमार अवस्थी, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, नई दिल्ली, रिसर्च प्रकाशन, 1997, पृ0सं0 – 116, 117।

खराब है। उदारवादियों ने भारत की गरीबी को दूर करने के अनेक सुझाव भी दिये। भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से उन्होंने स्वदेशी के विचार को प्रचारित किया। उन्होंने भूमि पर लगाये गये भारी लगान का भी विरोध किया। उदारवादियों ने कमचारियों पर किए जा रहे भारी खर्च को भी दोषपूर्ण माना।

प्रशासनिक विचार

उदारवादियों ने उस प्रशासन की भी आलोचना की जो दमन पर अधिक बल दे रहा था। उन्होंने प्रशासनिक सुधार आन्दोलन भी चलाया, जिसका आर्थिक , राजनीतिक तथा नैतिक आधार था। उपर्युक्त तीनों प्रकरणों को उदारवादियों ने इस तरह विवेचित किया। प्रथम आधार के रूप में ऊँचे वेतनों से भारतीयों पर आर्थिक बोझ बढ़ रहा था। राजनीतिक आधार पर उनका आरोप यह था कि यूरोपीय पूँजी पतियों का पक्ष पोषण हो रहा था। नैतिक आधार पर उदारवादियों का यह कहना था कि भारतीय चरित्र का हनन किया जा रहा है। उदारवादियों की एक दूरदर्शी सोच यह थी कि न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक किया जाये ताकि जनता को कुछ सुरक्षा मिल सके।[1]

आधुनिक राज्य और समाज का प्रश्न

उदारवादी नेताओं ने जनजागरण के लिए वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पक्ष पोषण किया। उन्होनें व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा समानता के सिद्वांतो की वकालत की। उदारवादी ने हिन्दू समाज के पुननिर्माण के लिए पाश्चात्य विद्वानों और दार्शनिको से विचार ग्रहण किये। गोखले ने 'सिविल मैरिज' जैसे सामाजिक सुधारों की वकालत की। उसमें राज्य की भूमिका को अहम माना।

---

[1] डा0 अमरेश्वर तथा डा0 राम कुमार अवस्थी, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, नई दिल्ली, रिसर्च प्रकाशन, 1997, पृ0सं0 – 116, 117।

नागरिक अधिकारों का विचार

उदारवादी राजनीतिक दृष्टि से प्रबुद्व नेता थे। वे भारतीय नागरिकों के हितैषी थे, जब ऑंग्ल सत्ता ने नागरिक अधिकारों को सीमित करने के लिए कोई कदम उठाया, तब–तब उदारपंथी नेताओं ने नागरिक अधिकारों की सुरक्षा का प्रश्न उठाया और उनके सीमित किये जाने का विरोध किया। उन्होनें प्रेस की स्वतंत्रता पर हनन का भी सटीक प्रतिकार किया।

भारतीय एकता का विचार

भारतीय स्वातन्त्रय संघर्ष को धार देने के लिए यह अतीव आवश्यक था कि सभी भारतीय एक बैनर तले एकत्रित हो अर्थात उनमें एकत्व की धारणा उद्भूत हो। प्रमुख उदारवादी नेता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इटालियन एकता के पुरोधा मैजिनी के भागीरथी प्रयासों की ओर भारतीय जनता का ध्यान आकृष्ट किया। दादा भाई नौराजी जैसे देशभक्त नेताओं ने भारत के एकीकरण के लिए विशेष प्रयास किये, जिसके परिणाम स्वरूप शिक्षित भारतीयों में एकता के विचार का उदय हुआ। गोखले जैसे प्रमुख उदारवादी नेता भी एकता के लिए किये जा रहे प्रयासों से प्रसन्न थे।[1]

संविधानिक सुधार तथा स्वशासन की माँग

प्रारम्भिक उदारवादी नेताओं की यह सोच थी कि स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए क्रमशः धीरे–धीरे कदम बढ़ाये जाये। इसलिए वे क्रमिक सुधारों पर विश्वास करते थे। इस दिशा में उनके प्रयासों में चुनौती और आक्रोश के स्थान पर

---

[1] गोपीनाथ कालभोर, गोपाल कृष्ण गोखले : जीवन और दर्शन, जयपुर ज्योति प्रकाशन 2003, पृ0सं0 – 44, 45।

आग्रह और अनुरोध रहता था किन्तु वे शुरू से ही संवैधानिक सुधारों पर बल देने लगे थे। शुरू के उदारवादी नेताओं और विधायक कौंसिलों तथा विधान परिषदों के अधिकारों को व्यापक बनाने और सदस्यों के अधिकारो में वृद्धि करने की माँग ताकि विधान सम्बन्धी मामलों पर प्रश्न पूँछने, बजट पर बहस करने तथा प्रशासन की समीक्षा करने की स्वतंत्रता प्राप्त हो सके।[1]

उदारवादियों के ही प्रयत्नों का प्रतिफल था कि आँग्ल सरकार ने 1892 में नया भारतीय विधान परिषद विधेयक पारित किया, जिसके अर्न्तगत गैर सरकारी सदस्यों की संख्या बढ़ायी गयी, हालांकि इससे भारतीयों का आक्रोश कम नही हुआ बल्कि उल्टे भारतीयो को यह लगा कि उनकी मांगों का उपहास उड़ाया गया है, उन्होनें गैर सरकारी निर्वाचित सदस्यों के बहुमत की मांग उठायी, साथ ही यह भी मांग रखी कि जनकोष पर गैर सरकारी नियंत्रण चाहिये तथा इस सिद्वान्त पर बल दिया कि "बिना प्रतिनिधित्व के कराधान नही।" इस प्रकार उदारवादी राष्ट्रीय नेताओं ने स्वशासन की मांग को पुरजोर तरीके से उठाया।

राजनीतिक कार्यो की शैली

प्रारम्भ के उदारवादी देशभक्तों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में जो कार्य पद्वति अपनायी, उसी के चलते उन्हें नरमपंथी कहा गया। नरम पंथवाद मे गैर संवैधानिक साधनों की कोई जगह नही थी। उदारवादियों को अंग्रेजों की न्यायप्रियता एवं प्रजातांत्रिक भावनाओं पर पूरा भरोसा था। तत्कालीन प्रमुख उदारवादी नेता अंग्रेजी शिक्षा, संस्कृति तथा आदर्शो से समन्वित थे। वे भारतीयों

---

[1] डा0 अमरेश्वर तथा डा0 राम कुमार अवस्थी, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, नई दिल्ली, रिसर्च प्रकाशन, 1997, पृ0सं0 – 119।

को शासन में अधिक अधिकार दिलाने में पक्षधर थे, किन्तु उनका आँग्ल–सदाशयता तथा ब्रिटिश संस्थाओं पर पूर्ण विश्वास था।[1]

नरमपंथियों की सोच थी कि भारत केवल सांविधानिक उपायों द्वारा, ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करते हुए धीरे–धीरे स्वशासन के लक्ष्य की ओर बढ़ता चला जायेगा। हिंसात्मक तथा क्रांतिकारी साधनों पर उनका बिल्कुल विश्वास नही था। वे प्रार्थनाओं, प्रार्थना पत्रों, प्रदर्शनों, प्रतिनिधि मण्डलों तथा स्मरण पत्रों द्वारा ही सरकार से न्याययुक्त मांगों का आग्रह करते थे। उन्हें विश्वास था कि आजादी से प्रेम करने वाली तथा वैधानिकता का दावा करने वाली गोरी जाति एक न एक दिन भारत के साथ न्याय अवश्य करेगी। उदार देशभक्तों की राष्ट्र भक्ति पर रंचमात्र भी अविश्वास नहीं किया जा सकता था किन्तु वे तत्कालीन अपनी सीमाओं एवं मर्यादाओं के साथ प्रतिबद्व थे। उदारवादी नेताओं ने गोरो से समानता, स्वतंत्रता और लोकतंत्र आदि के प्रभावी विचार ग्रहण किये थे, उनके ह्दय में पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति लगाव था। वे ब्रिटेन से प्रेरणा प्राप्त करने के उत्सुक रहते थे। गोरो ने भारत में आवागमन जैसी सुविधा तथा प्रशासकीय प्रणाली की जो स्थापना की थी, वे अंग्रेजो के इन कृत्यों से प्रभावित होकर भारत की राजनीतिक मुक्ति चाहते थे तथा भविष्य में भारत की स्वतंत्रता के भी हामी थे। उदारवादी तात्कालिक परिस्थितियों में आँग्ल साम्राज्यवाद से सबंध विच्छेद नहीं करना चाहते थे। उन्हें भय था कि आँग्ल शासन के कमजोर पड़ने पर भारत में पुनः अराजकता फैल जायेगी। उदारवादी फौरी नीति के पक्षधर नहीं थे। वे क्रमबद्वता की अवधारणा के कायल थे।

---

[1] गोपीनाथ कालभोर, गोपाल कृष्ण गोखले : जीवन और दर्शन, जयपुर ज्योति प्रकाशन 2003, पृ0सं0 – 48, 49।

उदारवादी संवैधानिक आन्दोलन के पक्ष में थे। उदारवादियों की सांविधानिक अवधारणा दो बातों पर निर्भर करती थी। पहली बात यह थी कि सिद्वांत पर कोई समझौता नहीं हो सकता। प्रमुख उदारवादी नेता एवं चिन्तक श्री निवास शास्त्री भी इस मत पर बल देते थे कि लोकमत की गतिशीलता सांविधानिक प्रतिरोध का आधार है । उदारवादियों ने अपने मिशन की प्रगति के लिए राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक महत्व के लगभग सभी पहलुओं को छुआ। वे उदारवादी आन्दोलन को जन आन्दोलन का रूप नही दे सके।

जनता का प्रतिभाग

उदारवादी नेताओं के चिन्तन में एक अभाव यह पाया गया कि उन्होनें केवल यह देखा कि जनता में राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र मे विकास नहीं है, इसके अलावा उन्होनें यह नहीं सोचा कि जनता में शौर्य एवं सरफरोशी के भाव भी विद्यमान रहते हैं, जिसके आधार पर आँग्ल साम्राज्यवाद से लम्बे समय तक लड़ा जा सकता था। उदारवादी नेता यह मानकर चल रहे थे कि जब तक देशे में लोगो में संयुक्त सहभाग की भावना पैदा नहीं होगी, तब तक गोरो से लड़ा नहीं जा सकता है।[1]

नरमपंथी नेता उस काल में जनता में संघर्षी भाव पैदा करने में सफल नहीं हो सके। जन जागरण के अभाव में आँग्ल साम्राज्यवाद को चुनौती नहीं दी जा सकती, हालांकि उस काल में जनता के अलग–अलग वर्ग थे, उनमें परस्पर

[1] डा0 अमरेश्वर तथा डा0 राम कुमार अवस्थी, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, नई दिल्ली, रिसर्च प्रकाशन, 1997, पृ0सं0 – 120, 121।

मतभेद थे, बाद के राष्ट्रवादी नेताओं ने जनता की नब्ज को पहचानने में कोई त्रुटि नही की, उन्होनें जनता के अन्दर छिपी ताकत को उभारा। उदारवादी नेताओं ने जुझारू जन संघर्ष की योजना को अमली जामा पहने का मिशन प्रारम्भ किया। कुछ समय बाद उदारपंथी नेताओं ने भी जनता में राजनीतिक चेतना को विकसित करना प्रारंभ किया, जो गोरों को अच्छा नहीं लगा। इस पर वायसराय कर्जन ने कांग्रेस को 'गंदी चीज' कहा। इस तरह से कहा जा सकता है कि उदारवादी नेताओं की जो विचारधारा एवं कार्य पद्वति थी, वह तत्कालीन समय एवं सामर्थ्य पर आधारित थी, उन्होनें उस काल की सम्भाव्य संकल्पना का आश्रय लेकर उसका अग्रसारण किया, राष्ट्रीय आन्दोलन को आगे बढ़ाया।

उदारवादियों के साधन

1885 से 1918 तक लगभग ढाई दशकों में उदारवादी नेताओं ने भारत की आजादी की लड़ाई में संवैधानिक साधनों को अपनाया, जिन्हें उनके उदारवादी साधन भी कहा जा सकता है। सबसे पहले उदारवाद के साधनों में तीन बिन्दुओं पर विचार करना अधिक प्रांसगिक होगा।[1]

प्रशासन का विकास

भारत में 1757 के प्लासी युद्व में गोरो की जीत हुई। उस जीत के साथ ही भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की दाग बेल लग गयी, कालान्तर में गोरों ने कुल्सित कार्य योजना की कुदाल चलाकर भारत में आँग्ल साम्राज्यवाद का भवन

---

[1] सतीश कुमार, उदारवाद और गोपाल कृष्ण गोखले, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1983, पृ0सं0–12।

खड़ा कर दिया। अंग्रेज इस बात से चिन्तित थे कि गोरी सत्ता को केवल बाहुबल के आधार पर बहुत दिनों तक भारत में स्थिर नहीं रखा जा सकता, इसलिए वे इस फिराक में रहते थे कि भारतीयों को पश्चिमी सभ्यता के रंग से सराबोर कर दिया जाये, ताकि वे पश्चिमी मान्यताओं में पूरी तरह ढल जाये। अंग्रेजो ने भारत में पश्चिमी तर्ज पर प्रशासनिक व्यवस्था विकसित की। गोरो ने भारत में प्रशासनिक व्यवस्था के संदर्भ में निम्न कदम उठाये[1] ।

एकरूपता का प्रयास

सबसे पहले गोरा नें यह प्रयास किया कि प्रशासन में निरन्तर एकरूपना बनी रहे। राज्य सचिव एवं वायसराय के बदलने की व्यवस्था की, प्रशासन को एक अखिल भारतीय संगठन का रूप देने का प्रयास किया।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता का पूर्णतः दमन नहीं

अंग्रेजो ने दूसरा प्रयास यह किया कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता को पूरी तरह न कुचला जाये। उसे किसी न किसी रूप में बनाये रखा, इसका प्रतिफल यह हुआ कि गुलाम भारत भी भाषण, संगठन एवं कार्य की स्वतंत्रता का उपभोग करता रहा।

कानून की समानता पर बल

गोरो ने प्रशासन को कानून के समक्ष समानता के सिद्वान्त पर आधारित रखा।इस प्रकार आँग्ल सत्ता के अन्तगर्त प्रशासन में उदारवादी मान्यतायें कहीं

---

[1] सतीश कुमार, उदारवाद और गोपाल कृष्ण गोखले, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1983, पृ0सं0–12।

न कहीं परिलक्षित होती रहीं। तत्कालीन इतिहास में यह प्रथम ब्रिटिश प्रयास था कि भारत को एक राजनीतिक तथा प्रशासनिक एकरूपता में ढालने का उपक्रम किया गया। प्रथम भारतीय उदारवादी नेता राजाराममोहन राय तथा प्रमुख नरमपंथी नेता गोखले ने गोरे प्रशासन का मूल्यांकन करते कहा था कि भारत गोरे शासन के पूर्व रक्त रंजित संघर्ष के दौर से गुजर रहा था, भारत के पूर्वी भागो में जीवन तथा सम्पत्ति सुरक्षित नही थी। ब्रिटेन के सम्पर्क में आने के बाद भारत के ये भाग सुरक्षित हो सके, साथ ही भारत में प्रशासन, शिक्षा एवं सभ्यता के क्षेत्र में विकास हुआ, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एवं उदारवादी संस्थाओ के विकसित होने का श्रेय गोरे शासन को जाता है।[1]

न्याय पर बल

पराधीन भारत में अंग्रेजो ने एक प्रयत्न यह किया कि 1773 में रेगुलेटिंग कानून पास कर तत्कालीन वैषम्य पर आधारित मध्यकालीन न्यायव्यवस्था को उन्मीलित कर पारम्परिक भारतीय समाज को एक नया आयाम दिया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सभी वर्गो के लिए एक ही प्रकार के कानून बनें, इससे एक व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। ब्रिटिश संसद ने उपर्युक्त कानून को पारित कर कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की, इन महानगरों में रियासती अदालते थीं, जिनका नियंत्रण कम्पनी के मुद्दो पर भी रहता था।

---

[1] सतीश कुमार, उदारवाद और गोपाल कृष्ण गोखले, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1983, पृ0सं0–13।

उसके बाद लार्ड मैकाले ने एक भारतीय दण्ड व्यवस्था(आई0पी0सी0) का प्रबंधकर भारत की न्याय व्यवस्था को एकीकृत रूप प्रदान किया। इस व्यवस्था के अर्न्तगत हर राज्य में एक उच्च न्यायालय की स्थापना हुई, जिसके विरूद्व प्रिवी कौंसिल में अपील की व्यवस्था की गयी थी। इस तरह से उदारवादियों के प्रयास से ही स्वंतत्रता एवं समानता जैसी मान्यतायें अस्तित्व में आयीं। इसके साथ ही कानूनी समानता, कार्यपालिका पर विधायिका का नियंत्रण जैसी अवधारणायें भी विकसित हुईं।

उदारवादी काल मे जो मान्यतायें उद्भुत हुई, वे पारम्परिक भारतीय समाज के मूल्यों से मेल नहीं खाती थीं, फलतः पाश्चात्य एवं पौर्वात्य व्यवस्थाओं के बीच संघर्षी स्थिति पैदा हो गयी, अन्ततः पश्चिमी मान्यताओं की विजय हुई, उदारवादी चरित्र विकसित होने मे पश्चिमी कानून एवं न्याय–व्यवस्था का बड़ा योगदान रहा, 19वीं सदी के मध्य तक वकालत का पेशा बेहद सम्मानजनक रहा, बहुत से उच्चशिक्षित भारतीय युवाओं ने वकालत के पेशा को अपनाया, महादेव गोविंद रानाडे गांधी तथा नेहरू जैसे राष्ट्रवादी नेता उच्च शिक्षा की ही देन थे। उस समय बहुत से छात्र कानूनी शिक्षा प्राप्त करने के लिए ब्रिटेन गये, जिससे भारत एवं इंग्लैण्ड के बीच उदारवादी तथा उपयोगितावादी चिन्तन का आदान–प्रदान हुआ।[1]

---

[1] सतीश कुमार, उदारवाद और गोपाल कृष्ण गोखले, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1983, पृ0सं0–14।

शिक्षा सम्बन्धी अवधारणा

आधुनिक आँग्ल शिक्षा ने उदारवाद के उद्भूत होने मे अह्म भूमिका निभायी, उस समय आँग्ल सरकार ने यह महसूस किया, जब तक भारतीय युवा सहयोग प्रदान नहीं करेंगें तब तक सरकार प्रभावशाली ढंग से कार्य सम्पादन नहीं कर सकेगी। इसीलिए सरकार ने भारतीय युवाओं को अंग्रेजी शिक्षा प्रदान करने का मन बनाया। यह जिम्मेदारी लार्ड मैकाले का सौंपी गयी । उसने आँग्ल शिक्षा की आधार शिला रखी।

इस दिशा में पहला कदम राजाराममोहन राय ने उठाया, उन्होनें कलकत्ता में हिन्दू कालेज की स्थापना की।

1857 में भारत में तीन विश्वविद्यालयों की स्थापना की गयी, इन संस्थाओं के माध्यम से आधुनिक मूल्यों का प्रसार किया गया तथा सरकार के लिए योग्य राजसेवक प्रदान किये गये। इस शिक्षा के द्वारा सारे देश में राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्र को एक नई दिशा प्राप्त हुई। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त तत्कालीन युवा बेकन, मिल्टन, लॉक, वर्ड्सवर्थ, बेथंम एवं मिल से परिचित हुए। भारत में अंग्रेजी शिक्षा के दो परिणाम निकले–

पुनर्जागरण की अवधारणा का पक्षपोषण

अंग्रेजी शिक्षा से भारतीय अध्येयताओं की अवधारणाओं को नया आलम्ब प्राप्त हुआ, वे भारत के सांस्कृतिक मूल्यों से परिचित हुए, भारत की सांस्कृतिक निधि के प्रति नैष्ठिक हुए, अध्ययन की रचनात्मक अवधारणा तथा भारत के

गौरवशाली अतीत के जागरण के प्रति अहम् भूमिका निभाना पुनर्जागरण कहलाया। उस काल में ऐसे वर्गो का नेतृत्व स्वामी दयानंद सरस्वती तथा विवेकानंद ने किया। भारतीय अध्येयता अपने अतीत के प्रति अत्यन्त अनुरागी थे। उस समय कई संस्थाओं का गठन किया गया, जिनमें बंगाल एशियालिक सोसाइटी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा, जिसे उदारवादी आन्दोलन का एक प्रमुख आधार कहा गया। इतना ही नही भारतीय अतीत के अध्ययन के प्रति कई विदेशी अध्ययनकर्ता भी आकृष्ट हुए, जिनमें से काण्ट, हीगल शैली तथा शापेन हावर जैसे दार्शनिकों को प्रमुखतः से रखा गया। अंग्रेजी शिक्षा के अध्ययन से भारतीय समाज में जिस पुर्नजागरण का प्रादुर्भाव हुआ, उसके परिणामस्वरूप भारतीयों के विचार धारा में दो धारणाओं का विकास हुआ[1]–

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का उद्भव-

तत्कालीन भारतीय युवाओं ने जैसे ही आँग्ल शिक्षा के अध्ययन में अपने को लगाया, वैसे ही उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। उनमें भारत के सांस्कृतिक इतिहास के प्रति लगाव उत्पन्न हुआ, जिससे भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। इस दिशा में दयानंद सरस्वती तथा स्वामी विवेकानंद तत्पश्चात् लाल, बाल तथा पाल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा।

---

[1] सतीश कुमार, उदारवाद और गोपाल कृष्ण गोखले, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1983, पृ0सं0–15।

मूढ़ मान्यताओं का विरोध-

भारतीयों की विचारधाराओं में दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तनीय मूढ़ मान्यताओं के विरोध स्वरूप नजर आया। तत्कालीन भारतीय समाज में जो कुत्सित प्रथायें एवं रीति–रिवाज तथा मूल्य विद्यमान थे, उनके विरूद्व आन्दोलन शुरू हुआ, जिसके सूत्रधार राजा राम मोहन राय रहे।[1]

नव जागरण की आहट

नई शिक्षा ने भारतीयों में नवजागरण का नव संचार किया। भारत में आँग्ल शिक्षा के स्थापक लार्ड मैकाले की सोच थी, नवशिक्षा से शिक्षित भारत का हिन्दु मध्यम वर्ग मूर्ति विरोधी होगा। लार्ड मैकाले की अभिलाषा पूर्ण नहीं हो सकी क्योंकि नई शिक्षा से अनुप्राणित भारतीय युवा वर्ग पश्चिमी दर्शन से जहाँ एक ओर स्वतंत्रता एवं समानता जैसी विचारधाराओं के महत्व को समझ चुका था वहीं उसमें आत्मशक्ति का नव संचार भी हो चुका था। इन दो अवधारणाओं को ही राष्ट्रीय आन्दोलन का उदगाता माना जा सकता है। आँग्ल भाषा के अध्ययन से भारतीय शिक्षित वर्ग पश्चिम की उस व्यवस्था से अवगत हुआ, जहाँ पर मंत्रियों पर भी मुकदमें चलते थे, अभिव्यक्ति की आजादी के लिए वहाँ के व्यक्ति राजनीतिक शक्ति की चिन्ता न करके उसकी अवहेलना भी कर देते थे। इसके साथ ही शिक्षार्थियों ने ब्रिटिश की गौरवपूर्ण क्रांति फ्रांसीसी क्रांति से परिचित हुए, लॉक, रूसो तथा वाल्टेयर के दर्शन का अध्ययन किया। मिल्टन के

---

[1] सतीश कुमार, उदारवाद और गोपाल् कृष्ण गोखले, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1983, पृ0सं0–15।

दर्शन ने उन्हें इस तथ्य से अवगत कराया कि व्यक्ति प्रकृति द्वारा स्वतंत्र पैदा होता है, उन्हें यह भी पता चला कि बिना अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एवं चिन्तन के किसी भी समाज का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नही होता। शिक्षित वर्ग ने व्रयस्क मताधिकार के महत्व को भी जाना। उन्हें यह मालूम हुआ कि संसदीय लोकतंत्र एक सर्वोत्तम शासन प्रणाली है। महिला मताधिकार तथा शिक्षा की व्यापकता से भी वे अवगत हुए।

इस प्रकार पश्चिमी दर्शन के अध्ययन ने भारतीय मनोभूमि में नये विचारों का बीजारोपण किया, उनमें स्वतंत्रता की उत्कृष्ट अभिलाषा जागी। भारतीय शिक्षित वर्ग ने पाश्चात्य अध्ययन से जो कुछ भी सीखा, उसे भारत में कार्य रूप में परिणित करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि आँग्ल साम्राज्यवाद से उत्पन्न प्रशासन, न्याय तथा शिक्षा जैसी तीन संस्थाओं ने भारत के आन्दोलन को एक नया आयाम प्रदान किया। भारतीय शिक्षित वर्ग पश्चिम के विद्वानों यथा जॉन लाक, जे0एस0 मिल, बोदां, बर्क एवं मिल्टन के विचारों से परिचित हुआ, नये युग की अवधारणाओं के फलस्वरूप विवकेशील संस्थाओं के उद्भव को बल मिला, कालान्तर में एक उदारवादी समाज का जन्म हुआ, जिसका आधार रहा सामाजिक न्याय एवं स्वतंत्रता। भारत के उदारवादी आन्दोलन में साधनों के रूप से उपर्युक्त तीन संस्थाओं के अतिरिक्त जिन तथ्यों, समूहों एवं संस्थाओं ने महत्वपूर्ण योग प्रदान किया, उनका भी यहाँ पर उल्लेख करना प्रांसगिक होगा।

मध्यम वर्ग की भूमिका

ब्रिटिश शासन में नव उपलब्धता के परिणामस्वरूप भारत में नये समाज का प्रार्दुभाव हुआ, जिसमें वर्गीय गतिशीलता प्रारंभ हुयी। नयी आर्थिक व्यवस्था एवं नवजागृति के फलस्वरूप मध्यम वर्ग के रूप में एक नये सामाजिक वर्ग का जन्म हुआ, जिसके कारण समाज एवं राष्ट्र की अभिजातीय प्रभुता को चुनौती मिलने लगी, यह मध्यम वर्ग राष्ट्र के लिए एक नव उपलब्धि थी। यह वर्ग राष्ट्र के कई क्षेत्रों में नेतृत्व करने लगा। इस वर्ग का माहात्म्य इसलिये बढ़ा क्योंकि सबसे पहले मध्यम वर्ग ही शिक्षित हुआ। यह वर्ग मूल्यों पर आाधारित संगठन का पक्षधर था। इस प्रकार यह मध्यम वर्ग एक महत्वपूर्ण स्त्रोत बन गया। इससे उदारवादी मान्यताओं को और अधिक बल मिला।

पश्चिमी संपर्क

भारत के उदारवादी आन्दोलन के विकसित होने म ें जिस दूसरे तत्व ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी वह तत्व रहा– पश्चिम से संपर्क बनना। भारत के बहुत से छात्र अध्ययन के लिए इंगलैण्ड के आक्सफोर्ड, लंदन एवं कैम्ब्रिज में गये, इसके अतिरिक्त भारतीय बौद्विक वर्ग की यूरोपीय यात्रायें भी हुईं। प्रथम विश्वयुद्व काल में इंग्लैण्ड में लोकसेवाओं की परीक्षा होती थी, इससे पूरब था पश्चिम से संपर्क स्थापित हुआ। इससे अनेक संगठन भी बने, जिससे दोनो देशों के बीच सामंजस्य स्थापित हुआ। ब्रिटिश इण्डिया सोसायटी ब्रिटिश इण्डिया एसोसियेशन और इण्डिया रिफार्म सोसायटी जैसे संगठनो ने इन आँग्लवादी

विचारकों का ध्यान भारतीय सदस्यों की ओर आकृष्ट किया। उदारवादियों ने भारतीय मुद्दों को संसद में भी उठाया। दादाभाई नौरोजी को ब्रिटिश संसद में स्थान प्राप्त हुआ, पाश्चात्य संपर्क का भारत में विकसित हो रही उदारवादी प्रवृतियों पर प्रभावी असर पड़ा। भारत के बौद्विक वर्ग पर मिल, स्पेन्सर, ग्राहम वालास तथा हॉल्सन के विचारों का गहरा असर पड़ा।

प्रेस की भूमिका

उदारवाद के उद्भूत तथा आधुनिक भारत के निर्माण में प्रेस के योगदान को नकारा नहीं जा सकता है, पश्चिम के सम्पर्क ने भारतीयों को प्रेस के माहात्म्य से अवगत कराया। किसी भी पराधीन देश में एक स्वतंत्र प्रेस की कल्पना तक नहीं की जा सकती। प्रेस ने भारत में जनमत को दीक्षित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। ईश्वरचन्द्र गुप्त द्वारा प्रकाशित प्रभाकर पत्र में भारतीय राजनीति का जिक्र रहता था। अन्य साप्ताहिक एवं मासिक पत्रों में हिन्दु पैट्रियाट, इण्डियन मिरर, अमृत बाजार पत्रिका, बम्बई समाचार, इन्दु प्रकाश, मराठा, केसरी एवं ट्रिब्यूट उल्लेखनीय थे, जिन्होनें राजनीतिक जागरूकता लाने में अहम् योगदान प्रदान किया।

नव आर्थिक पक्ष

आँग्ल सत्ता में भारत में बढ़ती आर्थिक नीति की आलोचना गोरों द्वारा की जाती रही। भारत में शिक्षा के प्रसार के साथ ही जैसे ही राजनीतिक जागरूकता का ग्राफ बढ़ा वैसे ही भारत के बौद्विक वर्ग ने भी गोरो की आर्थिक नीति की

सावधानीपूर्वक आलोचना करने लगे। भारत के आर्थिक शोषण की आवाज खास तौर पर भारत के उदारवादी चिन्तन में ही गुंजित हुई। भारतीय बौद्विक वर्ग में जहॉ दादा भाई नौरोजी, जोशी, गोपाल कृष्ण गोखले तथा दत्त ने आर्थिक योजनाओं की आलोचना की, वहीं डिग्वी जैसे आँग्ल उदारवादी ने भी यूरोपीय आर्थिक नीतियों की बखिया उघाड़ी।

वैसे तो मध्य युग में ही भारत का व्यापार प्रभावित होने लगा था किन्तु भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के बाद भारतीय सम्पदा के दोहन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी, इससे भारत की परम्परागत अर्थव्यवस्था ध्वस्त होने लगी थी इस पर भारतीय उदारवाद के प्रमुख नेता दादा भाई नौरोजी ने सम्पत्ति अभि निष्क्रमण के सिद्वान्त को प्रस्तुत किया, जिसमे उन्होनें स्पष्ट किया कि भारतीय सम्पत्ति का निरन्तर बर्हिगमन हो रहा है, इससे भारत की अर्थव्यवस्था खोखली हो रही है। उन्होनें इसके कारणों पर भी व्यापक रूप से प्रकाश डाला।

दादा भाई नौराजी ने यह स्पष्ट किया कि भारतीय अर्थ व्यवस्था के क्षरण होने के निम्न रूप से प्रमुख कारण कहे जा सकते हैं–

(1) अत्यधिक करभार (2) सरकारी नौकरियो में विदेशियों की अधिकता (3) असीमित सैन्य व्यय (4) भारतीय सामानों के निर्यात पर प्रतिबन्ध (5) भारत को ब्रिटिश वस्तुओं का बाजार बना देना। इस तरह नौरोजी ने आँग्ल सत्ता पर करारा आर्थिक प्रहार किया। ब्रिटेन का प्रमुख लक्ष्य भारत में मुनाफा कमाना था। ब्रिटेन के आर्थिक लाभ की ललक को कुछ इन बिन्दुओं में देखा जा सकता है–

(1) तटकर का अन्तर (2) ब्रिटेन में भारतीय सामान व आयात पर टोक (3) नेविगेशन एक्ट का अनुपालन। गोरों की इस प्रकार की नीति का भारत के व्यापार पर बुरा असर पड़ा। भारतीय अर्थतंत्र की इस प्रकार की दुर्दशा से भारतीय उदारवादियों को एक दिशा मिली। नौरोजी, रानाडे तथा गोखले जैसे उदारवादियों को आर्थिक मुद्दा मिल गया। यही कारण है कि आँग्ल सरकार की आर्थिक आलोचना भारतीय उदारवादियों के लिए एक प्रमुख विषय बन गया।

आँग्ल सरकार की आर्थिक नीतियों का एक दूसरा पक्ष भी है, जिससे उदारवादी आन्दोलन का पक्ष पोषण हुआ। गोरों ने भारत में अपने आर्थिक पक्ष के विस्तार के लिए सारे देश में कई उद्योगों एवं व्यवसायों की स्थापना की। रेलवे टेलीपोस्ट एवं टेलीग्राफ का विस्तार किया, जिसका परिणाम यह निकला कि सारा देश एक संचार सूत्र में गुंथ गया। गोरी सत्ता की इन व्यवस्थाओं ने देश को एक आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक इकाई बना दिया। भारत की कई समस्यायें राष्ट्रीय स्तर पर उभर कर सामने आयी।

कुछ नये कदम

19वीं सदी के अन्त में आँग्ल सरकार ने राजनीतिक सुधार के लिए कुछ कदम उठाये। इस सम्बन्ध में 1861 के भारतीय कौंसिल एक्ट का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। इस अधिनियम के द्वारा वायसराय की कौंसिल तथा सहायक विधान परिषदों में पहली बार गैर सरकारी सदस्यों के रखने का प्राविधान रखा गया। इससे नया राजनीतिक वातावरण विर्निमित हुआ, जिसका लाभ आने वाले

समय में उदारवादियों को मिला। इससे राजनैतिक विकेन्द्रीकरण की नीति का पक्ष पोषण हुआ। लार्ड रिपन ने प्रेस, शिक्षा तथा सरकारी विभागों में भारतीयों को रखने के सम्बन्ध में कुछ सकारात्मक रूख अपनाया।

1883 का इल्बर्ट बिल भी रिपन के सुधारों का एक हिस्सा था, जिसके द्वारा यह व्यवस्था की गयी थी कि भारतीय जजों को गोरो के अपराधों पर सुनवाई करने का अवसर दिया गया था, हालांकि भारतीय आँग्लों द्वारा इसका प्रबल विरोध हुआ था। परिणाम स्वरूप वह विधेयक साफल्य तो प्राप्त नहीं कर सका किन्तु शिक्षित भारतीयों में इस मुद्दे को लेकर व्यापक प्रतिक्रिया हुई। इससे देश में संगठित राष्ट्रीय जीवन की शुरूआत हुई। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना इसी प्रतिक्रिया का प्रतिफल था।

सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलन

पुनर्जागरण के प्रादुर्भूत होने के परिणाम स्वरूप देश में सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र में निरन्तर आदोंलन होते रहे, जिनसे उदारवादी मान्यताओं के प्रसार को बल मिला, इस प्रकार के आन्दोलनों का आरम्भ राजा राममोहन राय द्वारा 1878 में स्थापित ब्रह्म समाज के द्वारा हुआ। ब्रह्म समाज ने राजनैतिक तथा सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में आंदोलन की पूर्व पीठिका बनायी। इसने पर्दा प्रथा, बाल–विवाह, बहु–विवाह, जाति–व्यवस्था, नारी–अशिक्षा, सती प्रथा एवं अस्पृश्यता इत्यादि के उन्मूलन में अहम भूमिका निभायी। पाण्डु रंग रानाडे तथा भण्डारकर ने प्रार्थना समाज की स्थापना की, जिसने विवेकवादी आस्था का निर्माण किया। इन संस्थाओं से अंग्रेजी भाषा में शिक्षित वर्ग बहुत प्रभावित हुआ।

हिन्दु समाज को अनेक मूढ़ मान्यताओं से मुक्त कराया। इन दोनों संस्थाओं ने समाज सुधार के लिए सकारात्मक आन्दोलन चलाया। सारे देशवासियों को एक मंच प्रदान किया। भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के लिए आधारभूमि तैयार की। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय राष्ट्रवाद एवं उदारवाद दोनों के विकसित करने में इन आन्दोलनों की अहम् भूमिका है।

स्वामी दयानंद सरस्वती ने 1875 में आर्य समाज की स्थापना की, दयानंद ने इसके माध्यम से उदारवाद को सहयोग एवं चुनौती प्रदान की। दयानंद सरस्वती ने एक ओर हंसराज, पं0 गुरूदत्त तथा लाला लाजपतराय जैसे शिष्यों के साथ मिलकर नारी शिक्षा, विधवा विवाह और अस्पृश्यता–उन्मूलन के लिए आन्दोलन चलाकर उदारवाद के मार्ग का प्रशस्त किया, वहीं दूसरी ओर "वेदों की ओर लौटो" जैसे नारे तथा शुद्वि आन्दोलन के माध्यम से साम्प्रदायिकता को जन्म देकर उदावादियों के लिए चुनौती प्रस्तुत की ।

अन्ततः यह कहा जा सकता है आर्य समाज आन्दोलन के द्वारा राष्ट्रीय एकीकरण, सामाजिक सुदृढ़ता तथा परोक्ष रूप में उदावादी आन्दोलन को बल मिला। इससे राष्ट्रवाद तथा स्वराज्य की अवधारणा की आधार भूमि बनी, स्वामी विवेकानंद द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन को कम नहीं आंका जा सकता है,

स्वामी विवेकानंद भी भारतीय राष्ट्रवाद के एक प्रमुख आधार स्तम्भ थे। उन्हें आध्यात्मिक क्षेत्र का नेपोलियन कहा जाता है। वे हिन्दु संस्कृति के अनन्य उपासक थे। उन्होनें सामाजिक संस्थाओं को धर्म से पृथक कर भारतीय उदारवाद के विकास में प्रभावी योगदान प्रदान किया। स्वामी विवेकानंद ने सारे देश में सत्य का प्रतिपादन किया।

निष्कर्ष

1885 से 1918 तक का युग उदारवादी युग के नाम से जाना जाता है। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद कांग्रेस पर नरमपंथी नेताओं का प्रभाव रहा। इस काल के नेता और दादाभाई नौराजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, महादेव गोविंद रानाडे, फिरोजशाह मेहता एवं गोपाल कृष्ण गोखले के नाम रूप विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भारत के उदारवाद को पश्चिमी प्रसूत कहा जाता है, जिस समय भारत में उदारवाद का जन्म हुआ, उस समय व्यक्ति विवेक से नहीं अपितु शास्त्र–अनुगामी था। भारतीयों को पराधीन काल में संसदीय प्रमुसत्ता, विधि के समक्ष समानता तथा नागरिक अधिकारों की अवधारणा पश्चिम से प्राप्त हुई। इसी आधार पर भारत में उदारवाद के जन्म की पूर्व पीठिका बनी। उदारवादियों में प्रथमतः राजा राममोहन राय ने विवेकवाद का पक्षपोषण किया। उन्होनें उदारवाद को साध्य तथा साधन दोनो ही रूपो में माना। उदारवादियों की विचारधारा कार्यपद्वति तथा साधन तत्कालीन परिस्थिति जन्य थे। भारतीय उदारवादी क्रमिक सुधारों पर आस्था रखते थे। वे भारत में स्वशासन के पक्षधर थे। भारतीय उदारवादियों ने भारतीय जनता की मांग को प्रार्थना--पत्रों, स्मृतिपत्रों सम्मेलनों तथा प्रस्तावों के माध्यम से इंगलैण्ड तक में रखा । उदारवादियों ने ही आर्थिक क्षेत्र में हो रहे भारतीय शोषण को प्रभावी ढंग से आंग्ल शासन के समक्ष रखा। उग्रवादियों ने भले ही उनकी नीतियों को राजनीतिक भिक्षावृत्ति का नाम दिया हो किन्तु उनके अनुदाय को नकारा नहीं जा सकता है।

उदारवादियों ने भारत में राष्ट्रवाद को उद्भूत करने में प्रभावी पहल की। दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, महादेव गोविंद रानाडे तथा गोपाल कृष्ण गोखले जैसे प्रमुख उदारवादी नेता भारत से लेकर ब्रिटेन तक भारतीय आवाज को उठाया, अपनी विद्वता से गोरों को प्रभावित भी किया, जिसके चलते गोरी सरकार ने भारत में सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में कुछ सुधार भी किये।

चतुर्थ - अध्याय
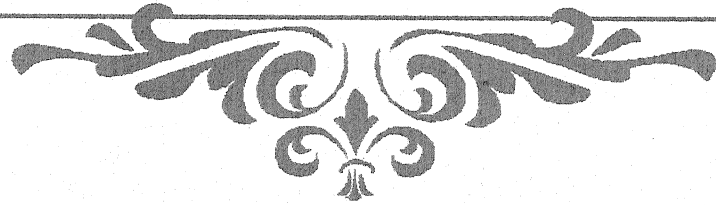
स्वाधीनता आन्दोलन और प्रमुख उदारवादी नेता

भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में आसेतु हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक के समग्र क्षेत्र ने किसी न किसी रूप में क्षात्र धर्म को निभाया, स्वातंन्त्रय वेदी में यथा सामर्थ्य सहभाग–समिधा डाली, वैसे तो भारत का स्वाधीनता आन्दोलन चार चरणों से होकर गुजरा है किन्तु कुछ विद्वान उसे तीन अवस्थाओं से होकर गुजरा हुआ मानते हैं। 1885 से 1919 तक का समय उदारवाद या नरमपंथी काल के नाम से जाना जाता है। इस काल में कुछ ऐसे प्रमुख उदारवादी नेता हुए हैं, जिनके अनुदाय को आन्दोलन की आधारशिला कहा जा सकता है उनमें से दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, महादेवगोविंद रानाडे, फिरोज शाह मेंहता एवं गोपाल कृष्ण गोखले का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

दादाभाई नौरोजी

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनकारियों में जहां तक नामचीन नेताओं द्वारा की गयी अगुवायी का प्रश्न है तो इस संदर्भ में निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि दादा भाई नौरोजी का कोई सानी नहीं था, वे निश्चित रूप से भारतीय आन्दोलन के पहले अगुवा आन्दोलनकारी थे, जिन्होनें भारत से इंग्लैण्ड तक भारतीय जनता की आवाज को उठाया। यहाँ पर उनके जीवन का विवेचन करना समाचीन होगा।

जन्म और शिक्षा

,दादा भाई नौरोजी के वंशज बड़ौदा राज्य के नवसारी कस्बे के निवासी थे, कुछ समय बाद इनका परिवार मुंबई के खदक या सड़क नामक स्थान पर रहने लगा था।[1]

दादाभाई नौरोजी का इसी निर्धन परिवार में 04 सितम्बर 1825 को जम्म से हुआ था। इनके पिता का नाम नौरोजी पालन जी दोर डी तथा माता का नाम मणिकबाई था। इनके पिता पुरोहिती के साथ–साथ खेती बाड़ी का भी कार्य करते थे।

दोरडी वंश का नामकरण

दादाभाई पारसी थे। इनका वंश दोडी कहलाता था। इनके एक पूर्वज का नाम बहराम जी महरनोश जी था। वे एक दिन एक दावत या निमंत्रण में देर से पहुॅचे। वे वहां पर पहुॅच कर सिकुड़ कर एक कोने में बैठ गये। इस पर उनके एक मित्र ने कहा कि तुम दोर डी (ऐंठे हुआ रस्सा) की तरह क्यों बैठें हो तभी से दादाभाई के वंश का नाम ही दोर डी पड़ गया।

दादाभाई नाम क्यों पड़ा?

पारसी होते हुए भी माता–पिता ने अपने पाल्य का नाम दादाभाई क्यों रखा? यह नाम हिन्दुओं की तरह प्रतीत होता है, इसका उल्लेख तो प्राप्त नहीं होता है कि यह नाम क्यों रखा गया किन्तु दादाभाई के जीवन पर दृष्टि पात

---

[1] विनोद कुमार (संपादन), भारत के गौरव, भाग–2,नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार 2006, पृ0सं0 01 ।

करने से यह सिद्व होता है यथा नाम तथा गुणा की उक्ति उनके जीवनकाल पर चरितार्थ हुयी, कालान्तर में सारे देश ने उन्हें अपना दादा अर्थात पितामह माना। उन्होनें कभी भी जात–पात को नहीं माना। उन्होनें हर किसी को अपना भाई माना। इस तरह से उन्होंने अपने जीवन में दादा भाई के नाम को सार्थक कर दिया और वे दादा भाई कहलाये।[1]

बाल जीवन में पितृघात

दादाभाई के घर पर पुरोहिती का कार्य होना था, उनके पिता भी दादाभाई को इसी कार्य की शिक्षा देना चाहते थे किन्तु संयोग से जब दादाभाई चार वर्ष के थे, तभी उनके पिता का देहान्त हो गया। दादा भाई की माँ शिक्षित अवश्य नहीं थी किन्तु उन्हें ज्ञान था कि किसी भी माँ को पाल्य के लिए क्या करना चाहिये। उन्होनें अपने पुत्र को पुरोहिती में ज्ञान देने के स्थान पर स्कूल भेजना उपयुक्त समझा। उन्होनें उसकी शिक्षा का खर्च वहन करने के लिए कड़ा परिश्रम किया।

उन दिनों आज की तरह स्थान–स्थान पर विद्यालय नहीं थे। देश में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन था। उसे भारत में शिक्षा के प्रसार की कोई चिन्ता नहीं थी, किन्तु कुछ ऐसे अंग्रेज शासक थे, जो चाहते थे कि भारत विकास करे, उस समय मुबंई के गवर्नर स्टुअर्ट एलफिन्स्टन थे। इनके प्रयासों से वहां पर नेटिव एजूकेशन सोसायटी बनायी गयी, जिनका उद्देश्य भारतीयों

---

[1] विनोद कुमार (संपादन), भारत के गौरव, भाग–2,नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार 2006, पृ0सं0 01 ।

को शिक्षित करना था। इस संस्था ने दो प्रकार के विद्यालय खोल रखे थे। एक विद्यालय में अंग्रेजी की शिक्षा दी जाती थी और दूसरे में देशी भाषा का ज्ञान प्रदान किया जाता था। देशी भाषा के स्कूल के एक शिक्षक का नाम था–मेहता जी। इन्होनें दादाभाई की माता से संपर्क कर दादा को अपने पुत्र के साथ उसी विद्यालय में प्रवेश दिला दिया। उस स्कूल में कोई शुल्क नहीं लगता था, यदि विद्यालय में थोड़ी भी फीस लगती तो शायद दादा भाई अनपढ़ रह जाते।[1]

दादा भाई नौरोजी का शिक्षा काल में 11 वर्ष की आयु में सोराबजी शराफ की कन्या गुलबाई से विवाह हो गया। उस समय गुलबाई की उम्र सात वर्ष थी। नौराजी ने देशी विद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के बाद मुंबई के एलिफिंसटन कालेज में अपनी शेष शिक्षा पूरी। मुबंइ में 1857 में वि0वि0 खुला, उसके पहले ही नौरोजी अपनी उच्च शिक्षा पूरी कर चुके थे। विद्यार्थी जीवन से ही दादा भाई लगभग सभी मामलों में बहुत आगे रहते थे, वे पढ़ने में बहुत मेधावी थे। उनकी प्रतिभा को देखकर कालेज के प्राध्यापक आर्लेवार ने उन्हें भारत की आशा की संज्ञा दी थी, जिसे आगे चलकर अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बल पर दादा भाई ने पूरा कर दिखाया था।

दादाभाई नौरोजी जब अपनी उम्र की 15वीं दहलीज पर पहुँचे तो उनमें यह समझ आ गयी थी कि उन्हें क्या करना चाहिये। दादाभाई प्रारम्भ से ही

---

[1] सूरज नारायण मुंशी, स्वतंत्रता के मार्गदर्शक दादा भाई नौरोजी, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार 1996, पृ0सं0– 02, 03 ।

संस्कारित थे। उन्होनें कभी भी किसी को गाली नहीं दी, उनमें शालीनता कूट–कूट कर भरी हुयी थी। उन्हें यह पता था कि मुझे जो कुछ मिल रहा है, वह समाज से ही प्राप्त हुआ है, इसलिए दादाभाई ने समाज सेवा का आजीवन व्रत लिया। दादाभाई गणित में बहुत तेज थे। एक बार उनके एक सहपाठी ने परीक्षा में रटकर गणित का एक पुरस्कार प्राप्त कर लिया, जिसे प्राप्त करने की आशा दादाभाई को थी। पुरस्कार–वितरण के समय जब कुछ प्रश्न किताब के बाहर के पूछे गये तो वह छात्र निरूत्तर हो गया। दादा भाई अपने जीवन के उषाकाल में ही अपनी एक अलग पहचान एवं प्रभाव बनाने में कामयाब होने लगे थे।

गणित के प्राध्यापक

दादा भाई नौरोजी को छात्रकाल में प्रारंभ से ही गणित में विशेषज्ञता प्राप्त थी। उच्च शिक्षा पूरी होने के बाद वे एलिफिंसटन कालेज में 1849 में केवल 25 वर्ष की उम्र में गणित कि प्रोफेसर हो गये। भारत में पाश्चात्य शिक्षा के इतिहास में वे पहले भारतीय थे, जिन्हें प्राध्यापक का पद प्राप्त हुआ था। वे इस पद पर 1855 के मध्य तक रहे। वे जब इंग्लैण्ड जायें, तभी इस पद को छोड़ा।[1]

[1] सूरज नारायण मुंशी, स्वतंत्रता के मार्गदर्शक दादा भाई नौरोजी, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार 1996, पृ0सं0– 02, 03 ।

स्वाधीनता आन्दोलन और दादाभाई नौरोजी

दादाभाई नौरोजी का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में अनुदाय कम महत्वपूर्ण नहीं रहा, उन्होनें भारत तथा भारत से बाहर इंग्लैण्ड में भी राजनीतिक चेतना को जाग्रत करने में अहम् भूमिका निभायी। वे उदारवादी नेताओं में पहले नरमपंथी देशभक्त थे, जिन्होनें सांविधानिक उपायों द्वारा भारत में आजादी की अलख जगायी। दादाभाई को ब्रिटिश न्यायप्रियता में विश्वास अवश्य था किन्तु साथ ही भारत के प्रति अंग्रेजो की जो शोषक एवं दमनकारी प्रवृत्ति थे, उसके वे विरोधी थे। दादाभाई निरंकुश साम्राज्यवादी व्यवस्था के पक्षधर नहीं थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में उनके योगदान को इस प्रकार उल्लिखित किया जा सकता है–

राजनीतिक सत्ता के नैतिक आधार के पक्षधर

दादाभाई नौरोजी को सम्पूर्ण जीवन सातत्य की संकल्पना से आप्लावित रहा, उन्होनें व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रो में नैतिकता को अपना आलम्ब बनाया। उनका विचार था कि नैतिकता ही हर कार्य को स्थिरता प्रदान कर सकती है। दादाभाई नौरोजी ने राजनीतिक सत्ता के नैतिक आधार का पुरजोर समर्थन किया, उन्होनें न्यायशीलता, मानवता और उंदारता को राजनीतिक व्यवयस्था, की एकता को स्थापित करने के लिए सर्वाधिक प्रभावी माना। उन्होनें 1893 के लाहौर कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में दो टूक शब्दो में यह स्पष्ट करते हुए कहा कि अस्त्र–शस्त्र के बल पर साम्राज्य–निर्माण तो हो सकता है किन्तु उसको स्थिरता केवल नैतिक आधार पर ही प्राप्त हो सकती

है। नौरोजी ने इस प्रकार के विचार व्यक्त कर अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता का आभास कराया। उन्होनें यह भी कहा कि यदि आँग्ल साम्रज्यवाद में भारत का शोषण होता रहा, दमन चक्र चलता रहा तो वह दिन भी दूर नहीं होगा जब साम्राज्यवाद विघटित हो जायेगा।[1]

ब्रिटिश शासन के प्रतिनिष्ठा एवं निर्भीकता

दादाभाई नौरोजी ने जहाँ एवं ओर ब्रिटिश शासन, संस्थाओं एवं ब्रिटिश चरित्र की खुल कर प्रशंसा की, वहीं वे उसके दोषो की आलोचना करने से नही चूके। उन्होनें 1906 के कलकत्ता कांग्रेस के अधिवेशन के अध्यक्ष के रूप में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए कहा कि ब्रिटिश शासन के अधीन रहते हुए अन्य शासनों की तुलना में हम पर कम दमन हो रहा है, हम अधिक सुखी हैं। इस शासन में हमें कमी दिखायी पड़ रही है, वह शासन की न होकर उन यूरोपीय अधिकारियों की है, जो हमारी परम्पराओं, रीति–रिवाजों एवं रस्मों को नहीं समझ पा रहे हैं। नौरोजी ने कहा कि हमें मूल समस्याओं से आँग्ल सत्ता को अवगत कराना चाहिये, मुझे विश्वास है कि वे हमारी शिकायतों का निराकरण अवश्य करेंगें। उनका कहना था कि भारतीय जनता को अपने दुखों के सामने ब्रिटिश अच्छाई को नहीं भूलना चाहिये। ब्रिटिश शासन के कसीदे पढ़ने के पीछे दादाभाई नौरोजी को आँग्ल आतंक का डर नहीं था अपितु दादा भाई एक उदारवादी राजनीतिज्ञ थे, वे भारतीय जनता की आवाज, मांग और

---

[1] डा0 अम्रेश्वर एवं डा0 राजकुमार अवस्थी, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन नई जयपुर, रिसर्च प्रकाशन, 1997, पृ0सं0 151 ।

आवश्यकता को सांविधानिक ढ़ंग से प्रस्तुत करना चाहत थे। उन्होनें समय–समय पर ब्रिटिश शासन के दोषो को भी प्रगट किया। दादाभाई सेल्सबटी के शब्दो को बार–बार दोहराते हुए कहते थे कि अन्याय बलवान से बलवान का भी नाश कर देगा। दादाभाई भारत का जो भी मुद्दा उठाते थे, वह आँकड़ो एवं तर्कों पर आधारित होता था।

भारतीय समस्याओं से ब्रिटिश लोकमत को अवगत कराना।

दादाभाई नौराजी ने भारत के पक्ष में प्रभावी प्रचार किया उनका मानना था कि यदि ब्रिटिश जनता को भारतीय जनता की समस्याओं से अवगत करा दिया गया तो वहां की जनता का भारत के प्रति अज्ञान समाप्त हो जायेगा। भारत के प्रति ब्रिटिश लोकमत को सही जानकारी देने के उद्देश्य से उन्होनें व्योमेश चन्द्र बनर्जी के सहयोग से लंदन इण्डियन सोसायटी की स्थापना की जिसका लक्ष्य आँग्लों तथा भारतीयों का आपस में संपर्क बढ़ाना था। 01 दिसम्बर 1866 को स्थापित ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन का उद्देश्य भी भारतीय हित था। एसोसियेशन के समारोह में अध्यक्षीय भाषण करते हुए दादाभाई ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि भारत का शासन भारत के हित में होना चाहिये। दादा भाई ने कहा कि भारत में एक लाख गोरों की उपस्थिति उनके साम्राज्य का सच्चा साक्षी नहीं है अपितु सच्ची शक्ति तो भारतवासियों की कृतज्ञतापूर्व राजनिष्ठा है।[1]

---

[1] डा0वी0पी0 वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, आगरा, लक्ष्मी नरायण अग्रवाल, 1998, पृ0सं0 172।

नौरोजी ने अपने भाषण में भारतीय समस्याओं की एक लंबी सूची प्रस्तुत की । इसमें गोरों की शिक्षा के प्रति उदासीनता, भारतीय शासन में उचित प्रतिनिधित्व का न होना, बार–बार दुर्भिक्ष, सिंचाई एवं आवागमन के साधनों का अभाव इत्यादि मामलों का उल्लेख था । दादा भाई ने ब्रिटिश जनता के समक्ष सिविल सर्विस में भारतीयों के प्रवेश का भी प्रश्न उठाया। उन्होनें यह भी मांग उठायी कि सिविल सर्विस की परीक्षा भारत तथा इंगलैण्ड दोनों स्थानों पर एक साथ हों। दादाभाई को भारतीयों की योग्यता एवं क्षमता पर पूर्ण विश्वास था। इस संदर्भ मे दादा भाई ने 95 पृष्ठों की एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें उन भारतीयों का उल्लेख था, जो ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत विभिन्न पदों पर पूरी योग्यता एवं क्षमता के साथ कार्य कर रहे थे।

निरंकुश साम्राज्यवाद का प्रतिरोध

दादाभाई नौरोजी ने इस बात पर बल दिया कि भारत तथा गोरो के हित एक दूसरे के पूरक हैं उन्होनें निरंकुश आँग्ल साम्राज्यवाद की बुराई का खुलासा किया। उन्होनें भारत में बढ़ रही गरीबी का खुलासा किया। उन्होनें भारत मे बढ़ रही गरीबी के लिए आँग्ल साम्राज्यवाद को दोषी ठहराया। उन्होनें कहा कि भारत के आर्थिक साधनों का जो अंधा–धुन्ध निर्गमन हो रहा है उससे ही भारत में दरिद्रता बढ़ी है। भारतीयों की जीवनी–शक्ति का ह्मास हुआ है। दादाभाई ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि ब्रिटिश निरंकुश शासक औपनिवेशिक जनता के साथ अहंकार और अत्याचार पूर्ण व्यवहार कर रहे हैं। दादाभाई ने अंग्रेजो को चेताते हुए कहा कि ब्रिटेन की सांविधानिक

सरकार का गौरव पूर्ण इतिहास रहा है किन्तु वहीं इंग्लैण्ड अब भारत में ऐसे गोरों का एक वर्ग तैयार कर रहा है, जो निरंकुश शासन में अभ्यस्त एवं प्रशिक्षित है, जिनमें अहंकार एवं निरंकुश शासन के दुर्गुण घर कर रहे हैं। जैफर्सन तथा टी0एच0 ग्रीन की तरह दादाभाई ने भी अनुरोध किया कि राजनीतिक सत्ता का आधार प्रेम, सदेच्छा एवं भावनायें होनी चाहिये, जन संतोष ही राजसत्ता का आधार होता है।

स्वशासन तथा स्वराज्य का विचार

दादाभाई नौरोजी अपने जीवन के सांध्यकाल काल में इस बात से विशेष दुःखी थे कि आँग्ल सत्ता में भारतीयों की निरंतर उपेक्षा हो रही है, दादा भाई की भाषा में अपेक्षा कृत अधिक कठोरता आने लगी थी, कांग्रेस अधिवेशनों के अध्यक्षीय भाषण तथा सामान्य तौर पर दादा भाई की ऑग्ल सोच के प्रति में अन्तर आ गया था, अब वे ब्रिटेन के प्रति भक्ति भावना पर उतना बल नहीं देते थे, जितना कि अपने पूर्व के भाषड़ो पर जोर रहता था। 20वीं सदी प्रारंभ होते–होते वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गये थे।[1]

कि स्वशासन और स्वराज्य का अधिकार प्राप्त किये बिना भारत का कल्याण नहीं हो सकता। उनके भाषणों में अब ब्रिटेन के प्रति भक्ति–भावना के स्थान पर अधिकारों की प्राप्ति की अधिक गूंज रहती थी। उनके द्वारा की गयी ब्रिटेन की आलोचना में अधिक प्रखरता रहती थी।

---

[1] सूरज नारायण मुंशी, स्वतंत्रता के मार्गदर्शक दादा भाई नौरोजी, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार 1996, पृ0सं0– 23, 24 ।

दादाभाई को यह जानकर अतीव प्रसन्नता हो रही थी कि भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना के स्वर गहरे होते जा रहे हैं, उन्होनें भारतीयों की मनोभूमि में जो विचार–बीज बोये थे, अब वे अंकुरित होकर फलीभूत हो रहे थे, उनकी दृष्टि में अब एक नये भारत का जन्म हो रहा था। उनकों इस बिन्दु पर भी खेद था कि अनेक प्रार्थनाओं तथा सांविधानिक याचनाओं के बाद भी ब्रिटिश सरकार भारत के प्रति प्रतिक्रियावादी नीति अपनाये हुए है।

8 मार्च 1904 को दादाभाई ने भारत में कुशासन विषय पर बहुत ही सारगर्भित भाषण किया, उसके बाद स्वशासन की माँग उठायी। लार्ड कर्जन द्वारा किये एवं बंगाल–विभाजन पर भारतीय जनता के असंतोष का समर्थन करते हुए दादा भाई ने अपने जीवन का सबसे जोशीला एवं सारगर्भित भाषण दिया। उन्होनें विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि यदि यही स्थिति रही तो देश में कभी भी विद्रोह हो सकता है। दादाभाई ने विश्रुत भाषण में कहा था 50 वर्ष पहले मुबंई के गवर्नर एल फिंसटन ने कहा था कि भारतीयों पर गुलामों तथा जंगली जातियों की तरह शासन किया जाना उचित नहीं है। दादा भाई ने कहा कि अभी तक अमित भारत में गोरे वहीं सिद्वांत अपनायें हुए हैं। भारतीय जनता अब जागरूक हो गयी है, भारत में अब यह शासन प्रणाली नहीं चल सकती।

दादाभाई ने 10 नवम्बर 1904 को गोखले के सम्मान में दिये गये रात्रि भोज में विचार व्यक्त करते हुए कहा कि जिन उपनिवेशों को स्वशासन का अधिकारप्राप्त हो गया है, वे विकसित हो रहे हैं, भारत को अभी स्वशासन का

अधिकार नहीं मिला है, इसलिए यहाँ दशा दिन–प्रतिदिन बिगड़ती जा रही है, किन्तु हमारा 52 वर्षो का आन्दोलन असफल नहीं हुआ है, यदि सारी जनता एकमत होकर यह कह दे कि हम स्वशासन के लिए कटिबद्व है और यह हमारा जन्म सिद्व अधिकार है तो मुझे विश्वास है, उनका यह कथन बेकार नहीं जायेगा। दादाभाई का गोरों के प्रति व्यवहार लगातार उग्र होता गया। वे लगातार गोरो की आलोचना करते गये।

दादाभाई 1906 में तीसरी बार कांग्रेस अध्यक्ष बनने से पूर्व नेविग्टन रिफार्म क्लब में बोलते हुए कहा कि आँग्ल उन चतुर शल्य चिकित्सकों की भाँति है, जो अपने तेज औजारों से दिल को काटकर खून की एक–एक बूँद तक निकाल लेते हैं और उसका निशान तक नहीं छोड़ते। दादाभाई तीन वर्षो से लगातार यह कहते रहे कि भारत के दुःखों के निवारण का एक मात्र उपाय स्वशासन है, वे 1906 तक आते–आते और अधिक उग्र हो गये। उन्होनें 1906 के कलकत्ता अधिवेशन में अध्यक्ष पद से बोलते हुए कहा कि भारत में स्वशासन के लिए एक और मांग है, वह है स्वराज्य। यह पहला अवसर था जब कांग्रेस के मंच से स्वराज़्य की माँग उठायी गयी। इस अधिवेशन से भारत के लिए एक नये युग की शुरूआत हुयी। उन्होनें अपने भाषण के अन्त में कहा कि मैं अपने जीवन के सांध्य काल में आपसे यह अपील करता हूँ कि सभी लोग एक होकर रहो, धैर्य से काम लो और स्वराज्य प्राप्त करो ताकि गरीबी अकाल और महामारी से मर रहे करोड़ो लोगो को बचाया जा सके।

देशी रजवाड़ो का विचार

दादाभाई नौरोजी को देश के युवाओं पर बहुत भरोसा था। वे चाहते थे कि भारतीय युवा अधिक से अधिक संख्या में बढ़कर आगे आयें और देश की आजादी की बागडोर अपने हाथ में थामें। उनका विचार था कि देश सेवा के इच्छुक युवाओं को संगठित करने का समय आ गया है, आजादी की भावना का प्रसार करने वाले स्वंय सेवकों की बहुत जरूरत है। दादा भाई ने इस सम्बन्ध में गोखले को एक पत्र लिख कर कहा था कि प्रत्येक प्रान्त में शिक्षित युवाओं का दल होना चाहिये।[1]

दादाभाई ने कहा कि गोरे और उनके समाचार पत्र यह समझने लगे हैं कि भारत की समस्यायें क्या है? एशिया में जागरण हो रहा है। हमें इतना अवश्य सोचना है कि अन्त तक हम निराश न हों। दादाभाई विदेशी शासन के विरूद्व राजनीतिक संघर्ष में देशी रियासतों के महत्व से परिचित थे। उन्होनें देशी रियासतों का समर्थन मॉगना चाहा तो दादा भाई के कुछ सहयोगी रियासती नरेशों के विचारों से सहमत नहीं थे। इस पर दादाभाई भी अपने मित्रों के तर्क से सहमत नहीं हुए। उन्होनें अपनी राय व्यक्त करते हुए कहा कि राष्ट्रवादी नेताओं को देशी रिजवाड़ो के राजाओं से भी निरन्तर सम्पर्क बना के रखना चाहिये, अन्यथा राष्ट्रीय नेता उपयोगी शक्ति को संचित करने से वंचित हो जायेगें।

---

[1] डा0 अमरेश्वर एवं डा0 रामकुमार अवस्थी, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, जयपुर, रिसर्च प्रकाशन, 1997, पृ0सं0 156, 157 ।

दादाभाई नौराजी कांग्रेस के शैशवकाल से जीवनान्त तक जुड़े रहे। वे जीवन भर कांग्रेस की सेवा में रहे, उन्होनें भारत तथा इंग्लैण्ड में कांग्रेस के झण्डे को ऊँचा रखा । उन्हें कांग्रेस की चिन्ता हर समय रही। दादाभाई की राजनीतिक पद्वति सांविधानिक थी। उनका विचार था कि सांविधानिक उपायों से ही भारत अपना अधिकार प्राप्त कर सकता है। उनकी राजनीतिक पद्वति की तीन मान्यतायें थीं–

1. स्वकार्यो की न्याय प्रियता में विश्वास
2. ब्रिटिश शासकों तथा जनता की न्यायभावना में विश्वास
3. ब्रिटिश लोगों को अपने न्यायोचित कार्यो का भरोसा दिलाना।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि वे अपने जीवन की नौ दशकों की पारी में सदैव राष्ट्रसेवी रहे, वे भारतीय इतिहास के एक अनमोल रत्न थे, वे महान गुरू तथा नेता थे। दादा भाई एक महान अर्थ शास्त्री थे। उनके निर्गम के सिद्वान्त ने आर्थिक जगत में तूफान ला दिया था। उन्होनें ही सबसे पहले कांग्रेस को स्वराज का मंच प्रदान किया। उन्होनें नरम तथा गरम दल के लोगो का सहयोग लेकर स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा, बहिष्कार, तथा स्वराज का प्रस्ताव पास कराकर नयी पीढ़ी करों ''दृढ़ संकल्प रखो, एक रहो तथा स्वराज प्राप्त करे'' का दिव्य संदेश दिया।

महादेव गोविंद रानाडे

महादेव गोविंद रानाडे राष्ट्रीय आन्दोलन के उन आरम्भिक अगुवाकारों में से एक थे, जिन्होनें अपने जीवन के छः दशको में से चार दशक राष्ट्रसेवा में खपा दिये। वे एक महान न्यायाधीश, अर्थशास्त्री, इतिहासज्ञ एवं समाज सुधारक थे। न्यायिक विद्वता के कारण उनका जस्टिस रानाडे नाम पड़ गया था। यहाँ पर उनके जीवन पर प्रकाश डालना प्रासंगिक होगा।

जन्म एवं शिक्षा

रानाडे लोग सह्याद्रि पर्वत और अरब सागर के मध्य स्थित कोंकण नाम की संकरी पट्टी मे रहने वाले चित पावन ब्राह्मणों के वंशज थे। महाराष्ट्र के नासिक जिले के निफाड नामक स्थान पर गोविंद राव रानाडे के घर 18 जनवरी 1842 को महादेव गोविंद रानाडे का जन्म हुआ था। उनका पहले माधव नामकरण किया गया था किन्तु बाद में कुछ लोगों ने उनका महादेव के रूप में नामकरण कर दिया। महादेव नाम उन्हें स्वंय पसंद था। महादेव गोविंद रानाडे का जिस समय जन्म हुआ था, उनके पिता गोविंद राव उस समय मामलतदार के हेड क्लर्क थे, उन्हें 35 रूपये की पगार मिलती थी, जो साधारण रूप से जीवन यापन करने के लिए पर्याप्त थी।[1]

कुछ दिनों बाद उनकी उन्नति हो गयी, ढाई वर्ष बाद उन्हें कोल्हापुर राज के कार्यभारी कार्यालय में पेशाकार बना दिया गया, उनकी पगार 250 रूपये प्रति माह हो गयी। महादेव गोविंद रानाडे की मां का नाम गोपिकाबाई था।

---

[1] पी0जे0 जागीरदार, महादेव गोविंद रानाडे, नई दिल्ली प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1981, पृ0सं0 12, 14 ।

रानाडे शैशवावस्था में खामोश याा शांति वृत्ति के थे। घर वालों ने उनके चुप रहने का यह अर्थ लगाया कि बच्चा बहुत बुद्धिमान है, वे 15 वर्ष की उम्र तक कोल्हापुर में रहे, उन्हें तब तक सामन्य योग्यता वाला ही समझा जाता रहा। वे स्वस्थ एवं ह्वस्ट–पुष्ट थे।

महादेव गोविन्द रानाडे चुप्पी साधे रहने वाले संकोची तथा प्रभावहीन स्वाभाव के थे, जिसे देखकर अपने एक मात्र पुत्र के सम्बन्ध में माँ बहुत निराश हो जाती थी, महादेव 12 वर्ष की उम्र तक उच्चारण करने में परेशानी महसूस करते थे। वे जब परीक्षा उत्तीर्ण कर लेते थे तो घर वालो को अपनी सफलता की सूचना नहीं देते थे, उन्हें दूसरों लोगो से ज्ञात होता था कि महादेव परीक्षा में पास हो गया है। परिवार वाले जब उनसे इस विषय पर बात करते तो वे उत्तर देने थे कि परीक्षा पास करना कोई विशेष बात नहीं है, जब साल भर पढ़ा जायेगा तो यह स्वाभाविक है कि परीक्षा में पास होगें। इससे परिवार वालों को यह पता चला कि महादेव संकोची है, मूर्ख नहीं।

महादेव गोविंद रानाडे बालजीवन से ही संयमित एवं नियमित थे। वे अपनी दिनचर्या के आदी थे। उन्हें इस बात की चिन्ता नही रहती थी कि लोग उसका मजाक या हँसी उड़ायेगें। वे नियम पालन में अभ्यस्त थे। उन्हें अपने कर्तव्यों का पूर्ण ज्ञान रहता था। वे अपनी दिनचर्या के पालन में कभी भी प्रमाद नहीं करते थे। महादेव आडम्बरों पर आस्था नहीं रखते थे। महादेव गोविंद रानाडे ने पूना में अपनी प्राथमिक शिक्षा पूरी करने के बाद पूना में ही 11 वर्ष की आयु में अंग्रेजी शिक्षा का अध्ययन प्रारम्भ किया। रानाडे उन 21

छात्रों में से एक थे, जिन्होनें 1859 पद में बम्बई वि0वि0 की प्रथम मैट्रिकुलेशन परीक्षा उतीर्ण की, बाद में वे कोल्हापुर हाईस्कूल में भर्ती हुए। उन्होनें बी0ए0 प्रथम श्रेणी में पास किया, उन्हे एम0ए0 में स्वर्ण पदक देकर सम्मानित किया गया। इसके अगले वर्ष महादेव ने एल0एल0बी0 की परीक्षा पास की। रानाडे की इतिहास में विशेष रूचि थी। वे छात्र जीवन में ही विविध विषयों पर खोजी लेख लिखा करते थे। महादेव ने गौरव पूर्ण मराठी इतिहास को अपनी कलम की कोर पर उतारा था। रानाडे में ज्ञानार्जन की अदम्य अभिलाषा थी, जिसने उन्हें बड़े पैमाने पर अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। 16 वर्ष से लेकर 23 वर्ष की आयु तक महादेव को अपने देश के राजनीतिक, सामाजिक एंव आर्थिक सुधारों के विषय में गहरी जानकारी हो चुकी थी।

एक अधिकारी के रूप में जीवन की शुरूआत

महादेव गोविंद रानाडे ने 1865 में एल0एल0बी0 की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद 06 वर्षो तक विविध क्षेत्रों में कार्य करने का अनुभव प्राप्त किया, वे इन वर्षो में राज्य–प्रशासक, न्यायाधीश तथा अंग्रेजी साहित्य के प्रोफेसर रहे। रानाडे ने वकालत करने के स्थान पर सरकारी नौकरी करना अधिक उपयुक्त समझा। महादेव ने 1871 में एडवोकेट की परीक्षा पास कर ली उसके बाद रानाडे की नियुक्ति मजिस्ट्रेट के पद पर हो गयी। उनकी पुणे में अपर न्यायाधीश के पद पर तैनाती हुई, उन्होनें मुबंई छोड़ दिया।

समाज सुधार के क्षेत्र में

रानाडे ने 'इन्दु प्रकाश' नामक दैनिक समाचार पत्र में विधवा–विवाह के सम्बन्ध में लेख लिखकर समाज–सुधर के क्षेत्र में प्रवेश किया, 1865 में एक विधवा–विवाह नामक एक संस्था स्थापित हुई, जिसके सचिव विष्णु शास्त्री थे। रानाडे उस संस्था की प्रबन्ध समिति के सदस्य थे। वे उसके प्रचार का भी कार्य करते थे, यहीं से रानाडे के सार्वजनिक जीवन का आरम्भ होता है। विधवा विवाह समाज सुधार आन्दोलन का एक अंग था। 19वीं सदी के आरम्भ में धार्मिक तथा सामाजिक अधिकार उस पुरोहित वर्ग के हाथ में आ गये थे, जिन्हें लोक कल्याण से कोई सरोकार नहीं रह गया था। [1]

हिन्दू समाज में अनेक ऐसी बुराइयॉ घर कर गयी थीं, जो किसी भी रूप में न्याय संगत नहीं थी, उनमें से प्रमुख थीं – जाति प्रथा, अस्पृश्यता, बाल विवाह, बहुविवाह एंव सती प्रथा इत्यादि। राजा मनमोहन राय के अथक प्रयासों के बाद आँग्ल सरकार ने 1829 में सती प्रथा सम्बन्धी कानून बनाया। विधवा विवाह आन्दोनल के दो अगुवा समाज सुधारकों – गोपाल हरिदेशमुख तथा विष्णुशास्त्री पण्डित ने रानाडे को समाज सुधार के क्षेत्र में आगे लाये। विष्णु शास्त्री पण्डित ने 1865 में विधवा विवाह उत्तेजक मण्डल की स्थापना की। गोपाल हरिदेशमुख ने अपने पत्र 'इन्दु प्रकाश' में 100 लेख छापकर हिन्दु समाज की मूढ़ मान्यताओं पर कड़ा प्रहार किया था।

---

[1] पी0जे0 जागीरदार, महादेव गोविंद रानाडे, नई दिल्ली प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1981, पृ0सं0 12, 14 ।

महादेव उन महापुरूषों मे से एक थे, जिन्होनें अपने जीवन के श्रेष्ठतम वर्षो को समाज के सुधार में व्यतीत कर दिये थे। उनका मानना था कि समाज–सुधार के बिना राष्ट्र की प्रगति नहीं हो सकती, राजनीतिक मिशन के लिए वे सामाजिक सुधार को आवश्यक मानते थे। वे जीवनान्त सामाजिक बुराईयों से संघर्ष करते रहे। उनकी दृष्टि में सामाजिक वैषम्य एवं कुत्सित संस्कार देश के पिछड़ेपन के सबसे प्रमुख कारण है। उन्होनें मुंबई के प्रान्तीय सामाजिक सम्मेलन में अपने विचार रखते हुए कहा था कि जिस प्रकार एक गुलाब के फूल के सौंदर्य को उसकी सुवास से अलग नही किया जा सकता, उसी प्रकार राजनीति को सामाजिक सुधार से पृथक नहीं किया जा सकता।

भारतीय समाज में सुधार एवं स्त्री-सम्मान के समर्थक

रानाडे का सम्पूर्ण जीवन सामाजिक सुधार में ही बीता। उन्होनें भारतीय समाज के पिछड़ेपन एवं पतन के कुछ कारण गिनाये–

1. पृथकता एवं संकीर्णता की भावना।
2. बाह्य शक्ति के सामने झुकना।
3. भाग्य पर जमे रहना
4. भौतिक सुख–समृद्धि के सम्बन्ध में उदासीनता
5. जाति तथा परंपरा के आधार पर मनुष्यों से भेदभाव।

रानाडे ने कहा कि सुधारों का अर्थ है– मुक्ति। उन रीति–रिवाजों और मूढ़ मान्यताओ से छुटकारा, जो अच्छे धर्म, राजनीतिक पद्वति और कानून पर

लगी है। रानाडे ने जिन सुधारों पर विशेष रूप से बल दिया था, उनमें महत्वपूर्ण थे– मानव–समानता, पर बल, जात–पांत का विरोध, बाल–विवाह का विरोध एवं स्त्री शिक्षा पर बल इत्यादि। रानाडे ने स्त्रियों की दयनीय दशा को गंभीरता से लिया। उन्होनें विधवा पुर्नविवाह की पुरजोर वकालत की। उनका मानना था कि स्त्रिओं पर ढाये गये अत्याचारों से हमारा भारतीय समाज अपमानित हुआ है। उन्होनें बाल–विवाह का घोर विरोध किया।

रानाडे ने सरकार के सामने समाज सुधार के सबंध में कुछ सुझाव दिये

1. कानूनी तौर पर विवाह की न्यूनतम आयु निर्धारित की जाये, उन्होनें लड़कों के लिए 16 से 18 वर्ष तथा लड़कियों के लिए 10 से 12 वर्ष की आयु की सिफारिश की।
2. वैवाहिक संस्कार के लिए नगर परिषद तथा जिला परिषद में पंजीकरण आवश्यक।
3. 45 वर्ष से अधिक के पुरूषों कें लिए कुमारी लड़कियों से विवाह निषेध किया जाये।
4. विशेष परिस्थितियों को छोड़कर पहली पत्नी के रहते दूसरी शादी की अनुमति न दी जाये।

समाज सुधार पद्धतियाँ

रानाडे ने समाज–सुधार के सम्बन्ध में कुछ पद्धतियों पर विशेष जोर दिया यथा–

1. परपरागत पद्धति

2. अन्तःकरण की पद्धति

3. विधायी पद्धति

4. विद्रोह पद्धति।

रानाडे ने प्रथम तीन पद्धतियों का अधिक अनुसरण किया।

रानाडे परंपरागत पद्धति के प्रयोगकर्ताओं में भाण्डारकर तथा दयानंद सरस्वती का प्रमुख रूप से नाम लिया, उन्होनें अपने को इस पद्धति के साथ जोड़ा। रानाडे ने विधवा पुर्नविवाह आन्दोलन के अग्रसारण में इस पद्धति का प्रयोग किया। उन्होनें अतीत के साथ सम्बन्ध तोड़ने का कभी भी आवाहन नहीं किया। वे अतीत के दोषो के परिमार्जन के पक्ष में थे।

अन्तःकरण की पद्धति के द्वारा नैतिक सिद्धान्तों पर चलने के लिए आम लोगो को तैयार किया जाता था। इस पद्धति मे यह भाव निहित था कि जब तक व्यक्ति के अन्तःकरण पवित्र नहीं होगा, तब तक आर्थिक सुधार संभव नही है । रानाडे ने समाज सुधार के उपक्रमों में इसी पद्धति का अनुसरण किया।

महादेव गोविंद रानाडे सामाजिक सुधारों को राष्ट्रीय चरित्र के साथ जोड़ते थे। वे भारत में राजनीतिक विकास के साथ–साथ सामाजिक विकास को भी चाहते थें। रानाडे सभी धर्मो के प्रति सहिष्णु थे, वे धर्म परिवर्तन के विरोधी थे। महादेव गोविंद रानाडे समन्वयवादी थे।

स्वाधीनता आन्दोलन और महादेव गोंविद रानाडे

महादेव गोविंद रानाडे उदात्त भारतीय राष्टवाद के गुरू थे, उनका स्वाधीनता आन्दोलन में महती योगदान रहा है। रानाडे सुधारवादी आन्दोलनकारियों में एक प्रमुख उदारवादी नेता थे। उन्होनें शासकीय सेवा में भी रहकर राष्ट्र सेवा से अपने को दूर नहीं रखा। उन्होनें अपने जीवन के तीसरे दशक से अपने को राष्ट्रीय आन्दोलन से घनिष्ठ रूप से जोड़ लिया। वे सबसे पहले प्रार्थना समाज के माध्यम से समाज सुधार का कार्य किया। रानाडे ने 1870 के बाद अपने को सार्वजनिक सभा के साथ संश्लिष्ट कर लिया, उन्होनें आर्थिक ऋण तथा राजनीतिक क्षेत्र में पुनरूत्थान के लिए इसे माध्यम बनाया। उन्हें एक अति उत्साही युवा मिल गया, जिनका नाम था– गणेश वासुदेव जोशी, जिसे सभी लोग सम्मान में सार्वजनिक काका करकर पुकारते थे। गणेश वासुदेव जोशी एक उत्साही युवक थे, उनमें निडरता तथा निष्ठा का अद्भुत मेल था। जोशी में लोक सेवा कूट–कूट कर भरी हुयी थी।[1]

गणेश वासुदेव जोशी पहला व्यक्ति था, जिसने भारत में स्वदेशी के विचार का प्रचार किया, उसने उक्त विचार को स्वंय पर चरितार्थ भी किया, वह 1877 में खादी के वस्त्र पहनकर दिल्ली–दरबार भी गया। रानाडे जब पुणे आये तो वे काका जोशी से मिले। वे दोनों अभिन्न मित्र बन गये। रानाडे ने जोशी से ही प्रभावित होकर आर्थिक समस्याओं की ओर रूख किया। काका

---

[1] पी0जे0 जागीरदार, महादेव गोविंद रानाडे, नई दिल्ली प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1981, पृ0सं0 87, 88 ।

जोशी ने देशी उद्योगो को प्रोत्साहन देने के लिए एक व्यावसायिक कम्पनी प्रारंभ की, साथ ही एक व्यापारोत्तेजक मण्डली नामक एक संस्था का भी गठन किया। महादेव गोविंद रानाडे से पूर्व दादा भाई नौराजी ने चौपट होती भारतीय अर्थव्यवस्था पर अपने विचार भारत तथा इंगलैण्ड दोनों स्थानों पर अलग–अलग रखे थे। इस सम्बन्ध में नौरोजी की ड्रेन थ्योरी महत्वपूर्ण मानी गयी। उसके बाद महादेव गोविंद रानाडे ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभावी विचार रखे। उन्होनें भारत में औद्योगीकरण के विस्तार पर बल दिया ताकि भारत में गरीबी को कम किया जा सके। उन्होनें सार्वजनिक सभा के बैनर तले कई महत्वपूर्ण एवं उपयोगी कार्य किये। रानाडे ने सार्वजनिक सभा के माध्यम से राजनीतिक मांग उठायी, एक उत्तरदायी सरकार के गठन की मांग भी की गयी।

महादेव गोविंद रानाडे एक सच्चे राष्ट्रवादी नेता थे। उन्होनें सार्वजनिक पद पर रहते हुए भी राष्ट्र सेवा में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी 1881 से 1893 के बीच सरकारी सेवा में रहकर भी उन्होनें कई प्रभावी कार्य किया।

रानाडे का राष्ट्रवादी चिन्तन

महादेव गोविंद रानाडे को उदात्त भारतीय राष्ट्रवाद का गुरू माना गया। रानाडे को हीगल, बोसांके तथा केशव चन्द्र सेन की तरह इतिहास में ईश्वरीय शक्ति के अन्तर्निहित होने मे विश्वास था।[1]

[1] पी0जे0 जागीरदार, महादेव गोविंद रानाडे, नई दिल्ली प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1981, पृ0सं0 126 ।

रानाडे तथा तिलक दोनो राष्ट्रवादी थे किन्तु दोनों के विचारों में भिन्नता थी। रानाडे तिलक के इस विचार से सहमत नहीं थे कि केवल एक ही धर्म को राष्ट्रवाद का आधार बनाया जाये। उनके विचार का केन्द्रीभूत भाव यह था लोगो को सर्वप्रथम एक भारतीय बनना चाहिये। वे भारतीय जीवन में भेदभाव के पक्षपाती नहीं थे। रानाडे स्वामी विवेकानंद की तरह भारत के उत्थान एवं उज्जवल भविष्य के पक्षपोषक थे। वे एक स्वप्न दृष्टा थे, रानाडे एक शक्तिशाली भारत के स्वरूप के समर्थक थे।

रानाडे के ब्रिटिश शासन सम्बन्धी विचार

रानाडे भारत में ब्रिटिश शासन को एक वरदान मानते थे, उनका मानना था कि देशवासियों को ब्रिटिश संपर्क से राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होगी। उनकी दृष्टि में भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना एक दैवीय कृपा थी। वे इस दृष्टि से उपयोगी मानते थे कि ब्रिटिश शासन के माध्यम से सामाजिक प्रगति एवं राष्ट्रीय जागृति का अमीष्ट प्राप्त हो सकेगा। वे ब्रिटिश या गोरों की नैतिक भावना एवं राजनीतिक सूझ–बूझ के कायल थे। उनका मानना था कि ब्रिटिश सरकार भारतीयों के बीच विचार–स्वातंन्त्रय को प्राथमिकता दे। रानाडे में आदर्श एवं व्यावहारिकता का अद्‌भुत संगम था। वे एक ऐसे उदारवादी नेता था, जिन्होनें घृणा को कभी भी अपने निकट नहीं आने दिया । वे किसी भी अन्यायपूर्ण कार्य को सहन नही करते थे।

रानाडे ने भारत में गोरों की जिन नीतियों को उपयुक्त नही समझा उनकी निर्भीकता पूर्वक आलोचना की । उन्होनें भारत में ब्रिटिश औद्योगिक नीति को गलत बताया एवं राज व्यवस्था तथा उत्तरदायित्व पूर्ण पदों से भारतीयों को अलग रखने की ब्रिटिश शासन की आलोचना की । उन्होनें ब्रिटिश शासकों द्वारा भारतीयों को हीन समझने की सोच को अनुचित माना।

रानाडे के स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार

रानाडे स्वतंत्रता के मूल्य को अच्छी तरह जानते थे। उनका मानना था कि स्वतंत्रता का अर्थ नियंत्रण अथवा शासन का अभाव न होकर कानून की व्यवस्था के अन्तर्गत शासन है। स्वतंत्रता के सम्बन्ध में रानाडे के विचार माण्टेस्क्यु तथा संविधानवादियों से मिलते जुलते थे। वे फ्रांसीसी विचारक दुनौयर के इस मत से सहमत थे कि स्वतंत्रता का अर्थ केवल नियंत्रण का अभाव नही है वरन हर प्रकार के श्रम की क्षमता की वृद्धि करने का भावात्मक उपाय है । उनकी स्वतंत्रता की मान्यता उदारवादी थी, जिसका आशय था निश्चित मापदण्डो की सीमा में स्वतंत्रता का उपभोग। वे अनियंत्रित स्वतंत्रता को व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए उपर्युक्त नहीं मानते थे। एक योग्य एवं निष्पक्ष न्यायाधीश के रूप में रानाडे का न्यायपालिका की स्वतंत्रता में पूर्ण विश्वास था।

इस प्रकार उनके लगभग छः दशकों के जीवन–वृतान्त से स्पष्ट होता है कि उदारवादी स्वाधीनता आदोंलन में महादेव गोविंद रानाडे का प्रमुख स्थान

था। वे उदारवादी परंपरा के प्रमुख प्रतिनिधि थे। वे ब्रिटिश शासन को भारत के हित में मानते हुए भी उसकी निंदा करने में कभी नहीं चूके। देश की आर्थिक समस्याओं को उजागर करने में वे एक अग्रणी लेखक थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में भी उनका योगदान था। समाज–सुधार के क्षेत्र में उनके अनुदाय को भुलाया नही जा सकता। रानाडे ने महाराष्ट्र में ऐतिहासिक अनुसंधान की आधार शिला रखी। वे निश्चित रूप से एक गुरू थे, जिन्होनें सामाजिक मुक्ति, आर्थिक प्रगति, सांस्कृतिक विकास तथा राष्ट्रीय एकता का उपदेश दिया।

फिरोज शाह मेहता

राष्ट्रवादी नेताओं में फिरोजशाह मेहता का एक अलग स्थान था। वे बंबई के बिना मुकुट के राजा कहलाते थे। फिरोजशाह मेहता ने जैसे ही अपने जीवन के 21 बसंत पार किये, वैसे ही वे सार्वजनिक जीवन में प्रवेश कर गये। उनका उदारवादी आदोंलन में प्रभावी योगदान रहा, यहाँ पर उनके आन्दोलनात्मक अनुदाय पर प्रकाश डालने के पूर्व उनके जीवन के वृत्तान्त को रेखांकित करना प्रासंगिक होगा।

जन्म एवं शिक्षा

फिरोजशाह मेहता का 04 अगस्त 1845 को बम्बई नगर मे जन्म हुआ था। मेहता की शिक्षा आर्यटन स्कूल से प्रारंभ हुई, जिसकी स्थापना धनजी भाई कामा ने की थी। फिरोजशाह मेहता 1855 में ब्रांच स्कूल में प्रविष्ट हुए, मुम्बई

के बहुत से नामचीन लोग इसी संस्था की देन रहे हैं। फिरोजशाह इस विद्यालय में 06 वर्ष रहे। इस संस्था से उन्होनें मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की।[1]

फिरोजशाह मेहता ने मैट्रिक करने के बाद एलिफिस्टन कालेज में प्रवेश किया, उनकी इतिहास तथा अंग्रेजी साहित्य में विशेष रूचि थी। उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली था। शिक्षाकाल में फिरोजशाह को विश्रुत शिक्षाविद् अलक्जैण्डर ग्रांट का सानिध्य प्राप्त हो गया, मेहता के एक लेख ने अलक्जैण्डर को बहुत प्रभावित किया, अलक्जैण्डर गाण्ट कालेज के प्रधानचार्य थे। फिरोज शाह मेहता बाल काल से ही परिश्रमी थे, मेहता में खेल की मेधा भी थी, उन्हें क्रिकेट खेलने का बहुत शौक था। मेहता ने विद्यालय में ही ईमानदारी तथा स्वतंत्रता का भी पाठ पढ़ा, उस काल में शिक्षण संस्थायें कम होने के कारण छात्र की प्रतिभा को सर्वतोमुखी बनाने में अधिक ध्यान दिया जाता था। फिरोजशाह मेहता पर सरअलैक्जेण्डर ग्रांट का बहुत प्रभाव पड़ा।

फिरोजशाह मेहता ने 1864 में बी0ए0 की परीक्षा उत्तीर्ण की, ग्राण्ट ने मेहता को 'दक्षिणा' शिक्षा वृत्ति दिलायी। मेहता को विद्यार्थी जीवन में ही गर्वनर हाउस से एक दुर्लभ सम्मान भी प्राप्त हुआ। मेहता का चयन जमशेद जी जीजीभाई छात्रवृत्ति के लिए हो गया। वे बम्बई के वि0वि0 से एम0ए0 की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् 1864 के दिसम्बर माह में इंग्लैण्ड गये। उन दिनों में ब्रिटेन मे भारतीयों की संख्या बहुत कम थी, जितने भी थे, उन सबमें घनिष्ठता बहुत रहती थी। फिरोज शाह मेहता दादा भाई नौरोजी से बहुत प्रभावी थे। उस समय नौरोजी इंग्लैण्ड में थे। मेहता दादा भाई को अपना प्रेरणा स्त्रोत

---

[1] होमी मोदी, आधुनिक भारत के निर्माता, फिरोज शाह मेहता, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1973, पृ0सं0 2 ।

मानते थे, वे नौरोजी को अपना गुरू मानते थे। फिरोजशाह मेहता की लंदन में श्रीमती डी0डी0 कामा से भी मित्रता था। उनका कामा के घर आना जाना लगा रहता था। वे कामा के घर पारसियों की साप्ताहिक बैठक में बढ़—चढ़ कर भाग लेते थे, मेहता वहाँ पर हर कार्य में अगुवा रहते थे। उनके मित्र उनसे पथ—प्रदर्शन की आशा रखते थे । इससे यह स्पष्ट होता था कि जैसे मेहता जन्मजात एक नेता रहे हों। वे कार्य व्यवहार के कारण सभी के प्रिय थे। उन दिनों जितने भी भारतीय लंदन में थे, उन सारे युवाओं ने कालान्तर में भारत में ही नही विश्व में अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व की अमिट छाप छोड़ी। उनमें से जमशेद जी टाटा, मनमोहन घोष, बदरूद्दीन तैय्यब तथा व्योमेश चन्द्र बनर्जी को प्रमुख रूप से गिना जा सकता है। ये सारे युवा दादा भाई के निवास पर एकत्रित होते थे, मेहता का भी नौरोजी के निवास पर उन सबसे सम्पर्क हुआ। व्योमेशचन्द्र बनर्जी से मेहता की दादा भाई के घर पर ही राजनीतिक मित्रता हुई। उस समय इंग्लैण्ड के कार्यालय, रस्किन, मिल, डार्विन तथा स्पेन्सर जैसे विचारकों के सिद्वान्तों तथा सन्देशो मानव जाति के विचारों को हिलाकर रख दिया । ब्रिटेन में उदारवाद का जन्म हुआ। इससे उस समय ब्रिटेन में एक नये युग का सूत्रपात हुआ, जिसका फिरोजशाह मेहता पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। यही वातावरण आगे चलकर मेहता के भावी जीवन के लिए आधारभूमि बना। उनमें साहस, विचार—स्वतन्त्रय तथा सुव्यवस्थित विकास के चिन्तन का प्रस्फुटन हुआ। फिरोजशाह मेहता अपने इन्हीं गुणों के विकास के कारण अन्य भारतीयों से बहुत आगे निकल गये।

इसी बीच दादा भाई नौराजी ने 1866 में लंदन में ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन की स्थापना की। इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य था– वैचारिक साधनों द्वारा भारतीयों के हित का संवर्द्धन। इस संस्था ने भारत तथा ब्रिटेन में भारतीयों में राजनीतिक चेतना को जगाने मे अहम् भूमिका निभायी। मेहता ने इस संस्था में बम्बई प्रेसीडेन्सी की शिक्षा प्रणाली नामक निबंध को मेहता ने प्रस्तुत किया, जिसको सभी लोगो ने सराहा। फिरोजशाह मेहता ने 1868 में इंगलैण्ड से बैरिस्टर की डिग्री प्राप्त की। लैटिन भाषा के महान विद्वान प्रोफेसर की ने फिरोजशाह मेहता की विद्वता के कायल थे। मेहता ब्रिटेन में चार वर्ष तक रहे। भारत आते समय मेहता की भेंट एक ऐसे मेधावी अंग्रेज से हुई जो भारत के हितैषी तथा भारत में उच्च पद पर आसीन थे । उनका नाम था – विलियम वेडरबर्न। उन्होनें मेहता का बम्बई नगर महापालिका के अन्तर्गत जस्टिस ऑफ पीस के पद पर नियुक्त करवा दिया।[1]

सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र में

फिरोजशाह मेहता के ब्रिटिश प्रवासकाल में ही सार्वजनिक जीवन का उद्भव हो गया था। मेहता ने नौरोजी द्वारा स्थापित ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन की सदस्यता ग्रहण के साथ ही सार्वजनिक जीवन में प्रवेश कर लिया था। वे 1872 में बम्बई नगर निगम के सदस्य बने, वे तीन बार उसके अध्यक्ष रहे। मेहता को 1886 में बम्बई विधान परिषद का सदस्य नियुक्त किया गया। मेहता

[1] होमी मोदी, आधुनिक भारत के निर्माता, फिरोज शाह मेहता, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1973, पृ0सं0 12 ।

1892 में विधान परिषद के सदस्य निर्वाचित हुए, वे इस पद पर 15 वर्षो तक आसीन रहे। वे 13 वर्षो तक भारतीय विधान परिषद के सदस्य रहे। वे संविधानवादी एवं उदारवादी विचारधारा के प्रमुख चिन्तक थे। मेहता ने बम्बई में वकालत करना शुरू किया, प्रारम्भ मे उन्हें कई मुसीबतों का सामना भी करना पड़ा । उनका लोक सेवा के क्षेत्र में प्रभावी अनुदाय रहा। उदारवादी आन्दोलन में उनके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता,

स्वाधीनता आन्दोलन और फिरोजशाह मेहता

फिरोजशाह मेहता के विचारों में उदारवाद एवं रूढ़िवाद का मिश्रण परिलक्षित होता था। वे भारत में स्वशासन के क्रमिक सुधार के पक्ष में थे। उदारवाद के क्षेत्र में वे स्वतंत्रता एवं अधिकारो के पक्षपोषक थे। वे प्रेस की स्वतंत्रता के हिमायती थे। उनका मत था कि प्रेस की स्वतंत्रता का हनन नवोन्मेषित स्वतन्त्र्य–अवधारणा को अवरूद्व कर देगा। वे निर्वाचन के अधिकार के समर्थक थे। उन्होनें संसदीय व्यवस्था का अनुसमर्थन किया। वे सुधारों के प्रबल पक्षधर थे। वे भारत में ब्रिटिश शासन के पक्षधर थे। मेहता भारत में हिंसा की राजनीति के समर्थक नहीं थे। वे गोरों के न्यायप्रिय एवं उदार स्वभाव के समर्थक थे। फिरोजशाह मेहता अपने राजनीतिक विचारों में राजनीति और नैतिकता के पृथक्करण के पक्षधर नहीं थे। वे स्थानीय स्वशासन की स्वायत्ता के पक्षपोषक थे।

फिरोजशाह मेहता गोपाल कृष्ण गोखले की तरह उदारवादी भारतीय चिन्तन के एक प्रमुख चिन्तक थे। उनका सांविधानिक मार्गो मे अड़िग विश्वास था। वे पशुबल की नीति के घोर विरोधी थे। फिरोजशाह मेहता टी0एच0ग्रीन तथा दादाभाई नौरोजी की तरह जनता की इच्छाओं, संकल्पो, आदर्श तथा प्रेम पर आधारित राजनीतिक शक्ति में विश्वास रखते थे। वे जनता के उस राष्ट्रवाद पर विश्वास करते थे, जो शांतिपूर्ण उपायों से आगे बढ़ता हो। फिरोजशाह मेहता का दमन–नीति मे विश्वास नहीं था। वे साम्रज्यवादी सत्ता द्वारा शक्ति प्रयोग के समर्थक नहीं थे।

फिरोजशाह मेहता प्रेस की स्वतंत्रता का दिल से समर्थन करते थे। उन्होनें वर्नाक्युलर प्रेस अधिनियम के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट करते हुए कहा था यदि प्रेस की स्वतंत्रता का दमन किया गया तो इसका तात्पर्य यह होगा किसी उबलते पदार्थ से भरे बर्तन का ढक्कन बंद कर देना, जिसका परिणाम, सिर्फ विस्फोट के अतिरिक्त और कुछ नही होगा। दादा भाई तथा महादेव गोविंद रानाडे की भांति वे भी ब्रिटिश शासन की प्रशंसक थे, वे ब्रिटेन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध बनाये रखने को भारत के हित में समझते थे। फिरोजशाह मेहता एक निस्पृह निष्ठावान देशभक्त थे, उन्होनें तत्कालीन ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति को समझते हुए भारतीय स्वतंत्रता के उपदेश को प्रस्तुत नहीं किया । उन्होनें कांग्रेस के सांविधानिक तथा राष्ट्रीय स्वास्थ्य की कामना की। उनका विश्वास था कि दमन–नीति तथा बर्बर उपायों से शासन की शक्ति का ह्रास होता है इसलिए शासन को जन–इच्छा का आदर करना चाहिये। वे क्रमिक तथा व्यवस्थित प्रगति पर विश्वास करते थे।

फिरोजशाह मेहता उदारवादी विचारो से आपूरित थे। वे स्वतंत्रता तथा मानव अधिकारों के उपासक थे, वे ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति आस्थावान होते हुए भी देशवासियों को अधिकारों के प्रति जागरूक करते थे। वे किसी भी अन्याय एवं उत्पीड़न के समर्थक नही थे। मेहता को किसी भी प्रकार की निरंकुशता सहन नहीं थी। उनका विरोध शक्तिशाली न होकर मर्यादित हो गया। वे अपने विचारों में विवेक और संयम को पूरा स्थान देते थे। उन्होनें आर्म्स एक्ट तथा प्रेस एक्ट का जमकर विरोध किया। फिरोजशाह मेहता ने इल्बर्ट बिल का समर्थन किया। फिरोजशाह मेहता नगर निगम, बम्बई विधान परिषद तथा इम्पीरियल परिषद में अपने देशवासियों के अधिकारों के लिए जमकर लड़े। वे अन्य मितवादी नेताओं की भाँति सत्ता के केन्द्रीय करण के पक्षधर नही थे। वे स्थानीय स्वायत्ता के पक्षपाती थे। उन्होनें भी रानाडे तथा सुरेन्द्र नाथ बनर्जी की तरह स्थानीय निकायों की शक्तियों के विस्तार पर बल दिया। बम्बई नगर निगम के स्वायत्त अधिकारों की रक्षा के लिए उन्होनें कड़ा संघर्ष किया। फिरोजशाह मेहता राजनीतिक पुनर्जागरण के लिए शिक्षा सुविधाओं के विस्तार पर बल देते थे उनका मानना था कि मस्तिष्क की स्वतंत्रता तथा बुद्घि का विकास किसी भी नागरिक की अमूल्य निधि है, जिसे शिक्षा के द्वारा विकसित किया जा सकता है।

मेहता की सोच थी कि भारतीयों के जीवन में सार्वजनिक एवं वैयक्तिक दायित्व तथा वफादारी के उच्च आदर्शो का समावेश के बल शिक्षा के माध्यम से ही किया जा सकता है। वे भी रानाडे की तरह भारत में उच्च शिक्षा के

समर्थक थे। वे संस्कृत भाष्य से परिचित नहीं थे। उन्होनें बम्बई की शिक्षा प्रणाली नामक निबंध मे संस्कृत भाष्य और साहित्य की जो आलोचना की थी, उसकी चारो ओर निंदा की गयी। यह उनकी देशभक्ति की भावना के अनुकूल नहीं था । उन्होनें उच्च शिक्षा सुधार आन्दोलन में अहम् भूमिका निभायी। फिरोजशाह मेहता में जनसाधारण मे प्रति पर्याप्त सहानुभूति थी। वे चाहते थे कि कांग्रेस जन साधारण के दर्द को समझे, उसका निदान भी करे। फिरोजशाह मेहता कांग्रेस के एक अग्रणी नेता थे।

कांग्रेस की निंदा करने वालों को मेहता ने हमेशा करारा जवाब दिया। कांग्रेस के अधिवेश्न के लिए मेहता को 1890 में अध्यक्ष बनाया गया। राष्ट्रीय आन्दोलन का कोई भी सदस्य इससे बड़ा और कौन सा सम्मान प्राप्त कर सकता था। अधिवेशन में उनके भाषण में उनके व्यक्तित्व की झलक दिखायी देती थी। उन्होने अपने भाषण में कांग्रेस के लक्ष्यों को प्रस्तुत किया। फिरोजशाह मेहता ने कांग्रेस अधिवेशन के लिए अध्यक्ष चुने जाने पर सभा को धन्यवाद दिया। कांग्रेस से मेहता का प्रारंभ से ही सम्बन्ध था, उन्होनें शीघ्र ही इस पर अपना अधिपत्य जमा लिया था। वे कांग्रेस के अधिवेशन में स्वागत समिति के कई बार अध्यक्ष चुने गये । उनका कांग्रेस आन्दोलन में अच्छा खासा प्रभाव था।

इस तरह से अन्त में यह कहा जा सकता है कि फिरोजशाह मेहता सार्वजनिक जीवन के हर क्षेत्र में स्वस्थ सुधारों तथा प्रगति के पक्षपोषक थे। वे जीवन भर उदारवादी आदर्शो की छाया में रहकर देश के जीवन को सुखी और

स्वस्थ बनाने का अथक प्रयास करते रहे। उनका सुधारवाद तथा संविधानवाद में पूर्ण विश्वास था। वे क्रांति के समर्थक नही थे। वे ब्रिटिश साम्राज्य के स्थायी स्थापना के समर्थक अवश्य थे किन्तु वे हृदय से भारतीय स्वतंत्रता के हिमायती थे, वे समय पर ही भारतीय स्वतंत्रता की आवाज को उठाने के समर्थक थे। वे जीवन भर उदारवादी बने रहे। वे जीवनान्त राष्ट्रेवी बने रहे।

स्वाधीनता आन्दोलन और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी का 19वीं सदी के उस दशक में जन्म हुआ था, जब 1757 की प्लासी पराजय के बाद भारत लगभग एक सदी के दासता का दंश झेल चुका था। प्लासी में भारतीय पराजय के बाद देश में कई विद्रोह हो चुके थे, उसके बाद देश में पहले स्वातंत्र्य संघर्ष की पूर्व पीठिका भी बन रही थी। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी उदारवादी आन्दोलन के एक प्रमुख पुरोधा थे। वे एक प्रभावशाली शिक्षक तथा राजनीतिक वक्ता थे। उन्होने सांविधानिक आन्दोलन की आवाज जन–जन तक पहुँचाने का कार्य किया था। उनका जनमानस पर इतना प्रभाव था कि वे अपनी वाणी के कौशल से मुलतान से लेकर चटगाँव तक विद्रोह की आग प्रज्वलित तथा प्रशान्त कर सकते थे। इसके पूर्व कि यहाँ पर उनके स्वातन्त्रय धर्मी अनुदाय का उल्लेख किया जाये, उनके जीवन–इतिहास के ऊषाकाल पर विचार करना प्रासंगिक होगा।

जन्म और शिक्षा

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी का एक ऐसे परिवार में 10 नवम्बर 1848 को जन्म हुआ था, जिसमें पुरातनता तथा नवीनता का अद्‌भुत संगम था, पौर्वात्य तथा पाश्चात्य नामक दो विरोधी तत्वों का अद्‌भुत मिश्रण था। सुरेन्द्र बनर्जी को उनके पिता दुर्गाचरण बनर्जी से जहाँ क्रांतिकारी उत्साह प्राप्त हुआ, वहीं उन्हें अपने दादा से परम्परा प्रियता का प्रभावी पाठ पढ़ने को मिला। इसी से प्रेरित होकर सुरेन्द्र नाथ बनर्जी देशभक्त बन गये। वे राष्ट्रवादी बनें, अराजकतावादी नही, वे सुधारक बने उग्रवादी नहीं।[2]

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने अपने शैक्षिक जीवन की शुरूआत एक पाठशाला से की, उसके बाद उनको पैरेण्टल एकेडेमिक संस्था मे भर्ती कराया गया। इस ऐंग्लों इण्डियन स्कूल में बनर्जी ने अंग्रेजी सीखी। बनर्जी ने अंग्रेजी भाषा में इतना अधिकार प्राप्त कर लिया कि आगे चलकर स्वंय गोरो को भी उनसे जलन होने लगी। उसके बाद उन्होनें डोबतन कालेज में प्रवेश लिया। बनर्जी ने 1868 में बी0ए0 की परीक्षा उत्तीर्ण की। वे एक मेधावी तथा होनहार विद्यार्थी रहे। उनका नाम पुरस्कृत शिक्षार्थियों की सूची में अवश्य रहता था।

बनर्जी के पिता जी कलकत्ते के एक सुप्रसिद्व चिकित्सक थे। वे अपने बच्चो को शिक्षा प्रदान करने के साथ–2 उनके स्वास्थ्य पर भी विशेष ध्यान देते थे। उन्होनें अपने घर में एक व्यायामशाला खोल रखी थी, जिसमें एक

[2] एस0के0 बोस, आधुनिक भारत के निर्माता सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग,भारत सरकार 2006 ।

व्यायाम शिक्षक भी रख लिया था। यह शिक्षक घर के बच्चों को भारतीय खेल एवं व्यायाम की शिक्षा प्रदान करता था, यही कारण था कि बनर्जी का स्वास्थय 77 वर्ष की आयु मे भी फिट था। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी शैक्षिक जीवन में ही क्रांति और सुधार के परिवेश से प्रभावित होने लगे थे। वे अपने समकालीन वातावरण से अपने को अलग नही रख सके। वे ब्रह्मसमाज के नेता केशवचन्द्र सेन से बहुत प्रभावित हुए।

बनर्जी प्रमुख सुधारक ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के विधवा–विवाह आन्दोलन से भी बहुत प्रभावित हुए। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 03 मार्च 1868 को अपने दो मित्रों – रमेश चन्द्र तथा बिहारीलाल गुप्त के साथ ब्रिटेन के लिए रवाना हुए, वहां पर गोल्ड स्टुकर तथा हेनरी मार्ले जैसे प्रोफेसरों के निर्देशन में अध्ययन किया। वे 1869 में आई0सी0एस0 की प्रतियोगी परीक्षा में बैठे और सफल हो गये। बनर्जी को मात्र 23 वर्ष की आयु में 1871 में सिलहट के सहायक दण्डाधिकारी के पद पर नियुक्त कर दिया गया। बनर्जी गोरो की साजिश के शिकार हुए, उन्हें ज्वाइण्ट मजिस्ट्रेट के रूप में कार्य नहीं करने दिया गया। उन पर झूठे आरोप लगाकर पचास रूपयों की मासिक पेंशन देकर उन्हें 1873 में पदच्युत कर दिया गया। वे इस केस को लेकर इंग्लैण्ड तक गये और लड़े किन्तु सफलता नहीं मिली।

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी का आसेतु जीवन मुसीबतों से भरा रहा किन्तु उन्होनें कठिनाईयों के सामने कभी भी घुटने नही टेके। मुसीबतों से ही व्यक्ति का निर्माण होता है, परेशानियों ने बनर्जी को एक वीर योद्धा बना दिया।

इंग्लैण्ड के प्रवास–काल में बनर्जी ने बर्क, मिल, मैकाले तथा स्पेन्सर के विचारों का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन किया था। इससे उनके चिन्तन को एक नया आयाम मिला। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के स्वातन्त्रय धर्मी सहयोग का उल्लेख अधोलिखित बिन्दुओं के रूप में किया जा सकता है–

सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र में

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने 1874 से 75 के बीच इंग्लैण्ड में पश्चिम के लब्ध प्रतिष्ठ विचारकों के विचारों का अनुशीलन किया। उसके बाद स्वदेश आकर सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया किया। उनका पहला सार्वजनिक जीवन कार्य मद्यपान का विरोध करना था। उन्होनें 26 जुलाई 1876 को अपने कुछ सहयोगियों के साथ मिलकर इण्डियन एसोसियेशन नामक संस्था का गठन किया, कलकत्ते में गठित इस संस्था का मूलभूत उद्देश्य था– अखिल भारतीय स्तर पर देशवासियों में एक सूत्र में पिरोना। संस्था की हार्दिक इच्छा था कि देश में एक सशक्त जनमत तैयार हो, साथ ही हिन्दुओं तथा मुसलमानों में सहानुभूतिपरक सम्बन्धों का विकास हो।[1]

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के सद् प्रयासों तथा प्रेरणा के बल पर यह संस्था वैधानिक आन्दोलन के सिद्वान्त एवं व्यवहार की आधार बन गयी, इसीलिए बनर्जी को साविधानिक आन्दोलन का अग्रदूत कहा गया। भारत में स्वराज्य की जो अवधारणा उद्भूत हुई, उसके मूल में कहीं न कहीं बनर्जी का अग्रगण्य

---

[1] डॉ० वी०पी० वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, आगरा, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल 1998, पृ०सं० 205,

अनुदाय अवश्य था। बनर्जी का सिविल सर्विस आन्दोलन में अग्रणी योगदान था, बनर्जी ने अपने ओजस्वी भाषणों से सोयी हुई भारतीय जनता को जगाया साथ ही सांविधानिक संघर्ष के लिए आधार भूमि तैयार की। उन्होनें वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट तथा आर्म्स एक्ट के प्रति विरोध व्यक्त करने के लिए कलकत्ता में एक विशाल जनसभा का आयोजन किया, उन्होनें अपने विचारों को जन–जन तक पहुँचानें के लिए बंगाली पत्र का संपादन प्रारंभ किया। एक पत्रकार के रूप में उन्हें पूर्ण सफलता भी मिली। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने 1909 में ब्रिटेन में भारतीय प्रेस के प्रतिनिधि के रूप में प्रेस की स्वतंत्रता का प्रबल समर्थन कर उसकी स्वतंत्रता का पूरी सिद्दत के साथ बचाव किया। बनर्जी ने सार्वजनिक क्षेत्र में हर तरफ शानदार सहभाग किया और अपनी एक अलग पहचान बना ली। वे 23 वर्षो तक कलकत्ता नगर निगम के सदस्य रहे, उनका 40 वर्षो तक निरन्तर कांग्रेस से सम्बन्ध रहा। उनकी वकतृत्व शैली में भाषा प्रभुत्व, कल्पना–प्रवणता, उच्च भावुकता तथा वीरोचित हुंकार का अद्भुत मिश्रण परिलक्षित होता था। वे दो बार 1895 तथा 1902 में पूना तथा अहमदाबाद कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष बनें। उनका आदर्श रहता था–ब्रिटिश शासन के प्रति अटल श्रद्धा रखकर काम करना । वे 1918 तक कांग्रेस से जुड़े रहे, उग्रवादियों से तीव्र मतभेद होने पर उन्होनें अपने को कांग्रेस से अलग कर लिया। उदारवादियों ने अपना एक अलग उदारवादी संघ बना लिया, बनर्जी ने जिसकी पहली अध्यक्षता की।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे, जिन्हें विधान परिषद के सदस्य के रूप में भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुयी। वे 1849 से 1901 तक लगातार आठ वर्षो तक विधान परिषद के सदस्य रहे। बनर्जी ने 1919 में भारतीय शासन अधिनियम के अर्न्तगत एक मंत्री के रूप में कार्य किया। बनर्जी को शिक्षा, राजनीति, व्यवस्थापन तथा पत्रकारिता आदि के क्षेत्र अद्‌भुत सफलता मिली। उन्हें उनकी तार्किक वाक्‌क्षमता के कारण भारत का ग्लैडस्टन कहा गया। उन्होनें चैतन्य की सिरे से व्याख्या की तथा वैष्णव धर्म पर लगाये गये आरोपों का निवारण किया।

राजनीतिक प्रगति में विश्वास

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी पूरी तरह से उदारवादी तथा मानवतावादी थे। मानव स्वभाव की अच्छाईयों पर बनर्जी का पूर्ण विश्वास था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी मानव–स्वभाव में दैवी तत्व को निहित मानते थे, इसलिए वे मानव स्वभाव की अच्छाई में पूर्ण, विश्वास रखते थे । वे राजनैतिक क्षेत्र में नैतिकता को अलग नही रखना चाहते थे। उनकी सोच थी कि राजनीति को उच्च आदर्शो पर अवलम्बित होना चाहिये। वे इटली के महान देशभक्त मैजिनी से बहुत प्रभावित थे। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी का राजनीतिक प्रगति में पूरे जीवन भर विश्वास बना रहा।

ब्रिटिश उदारवादियों का प्रभाव

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ब्रिटिश उदारवादियों से प्रभावित थे। उनको अंग्रेजो की सद्‌भावना पर पूरा भरोसा था। बड़े से बड़े झंझावात में भी बनर्जी अपने

इस सिद्वांत से नही डिगे। बंगाल विभाजन के समय बहुत से उदारवादी देशभक्त उदारवाद से रिश्ता तोड़कर उग्रवाद वे क्षेत्र में प्रवेश कर गये किन्तु बनर्जी उदारवादी एवं संविधानमार्गी ही बन रहे। बनर्जी ने इंग्लैण्ड के शिक्षा–काल में बर्क, मैकाले, मिल और स्पेन्सर आदि का गहन अध्ययन किया था, इस कारण वे नैतिक आदर्शवाद तथा उदारवादी व्यक्तिवाद से बहुत प्रभावित थे। उनके हृदय में वर्क के प्रति बहुत श्रद्वा थी। इंग्लैण्ड की सांविधानिक परम्पराओं का प्रभाव बनर्जी पर आजीवन रहा। उनकी सोच थी कि इंग्लैण्ड के सांविधानिक इतिहास के महत्वपूर्ण अध्यायों में स्वतंत्रता की अवधारणा का स्थान सर्वोपरि है। वहाँ का संसदीय प्रजातंत्र अंग्रेजो के नागरिक स्वतंत्रता के प्रति अटूट प्रेम का प्रतीक है। बनर्जी की यह हार्दिक इच्छा थी कि ब्रिटेन अपनी गौरवशाली सांविधानिक परम्परा का भारत में भी बनाये रखे।[1]

ब्रिटिश चरित्र और शासन के प्रति निष्ठा

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी का ब्रिटिश शासन तथा उसके चरित्र के प्रति पूरी आस्था थी। वे दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता तथा महादेव गोविंद रानाडे की तरह ब्रिटिश शासन के कल्याणकारी स्वरूप पर भरोसा था बनर्जी तथा उनके मित्रों का उद्देश्य भारत के लिए स्वशासन प्राप्त करना था किन्तु वे उसे ब्रिटिश शासन के अंदर चाहते थे। उग्रवादियों का लक्ष्य भी भारत के लिए स्वशासन–प्राप्ति था किन्तु वे ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं रहना चाहते थे। बनर्जी भारत तथा ब्रिटिश के मध्य सम्बन्ध को ईश्वर की इच्छा

[1] डॉ0 वी0पी0 वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, आगरा, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल 1998, पृ0सं0 210

मानते थे। उन्होनें एक भाषण में यह कहा था कि भारत के लिए इंग्लैण्ड के जो ध्येय है, उन्हें तीन वर्गो में रखा जा सकता है–

- भारतीय समाज की बुराईयों को समाप्त करने में सहायता की जाय।
- उसे आत्मनिर्भर, उत्साह तथा पौरूष से पूर्ण बनाया जाय।
- भारत में स्वशासन की कला को प्रारंभ किया जाय।

बनर्जी का विश्वास था ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद भारत के हित में नही होगा। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी का ब्रिटिश चरित्र एवं शासन के प्रति भले ही आस्था रही हो किन्तु गोरे शासन में जब–जब भारतीयों का दमन हुआ, तब–तब वे उसका विरोध करने में कभी नहीं चूके। भारतीय स्वातन्त्रय आदोंलन उनके जीवन में छाया रहा किन्तु इनका स्वभाव उदारवादी तथा सांविधानिक रहा। ब्रिटिश दोषों की आलोचना करने के कारण उन्हें सुरेन्द्र नॉट बनर्जी अर्थात समर्पण न करने वाला बनर्जी कहा जाता था।

सुरेन्द्र नाथ का उदारवादः सांविधानिक पद्धति में आस्था

भारतीय मितवादियों के राजनीतिक दर्शन की एक प्रमुख विशेषता थी कि उनकी राजनीतिक शाखा का आधार नैतिकता थी। वे बल प्रयोग तथा हिंसा के विरोधी थे। उन्होनें बल प्रयोग का समर्थन नहीं किया। बनर्जी का अपने समकालीन उदारवादी दर्शन पर पूरा भरोसा था। वे सांविधानिक आन्दोलन और साधनों के प्रबल पक्षधर थे। उनकी सोच थी कि वैधानिक उपायों से ही भारत का हित होगा।

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने इण्डियन एसोसियेशन के माध्यम से भारत में वैधानिक आन्दोलन द्वारा सशक्त जनमत तैयार करने में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया। बनर्जी ने इण्डियन एसोसियेशन का गठन करते समय अपने समक्ष चार आदर्श रखे थे–

- एक सशक्त लोकमत का निर्माण
- समान राजनीतिक हितो और अकांक्षाओं के आधार पर सारी भारतीय जनता का एकीकरण
- हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच मैत्री सम्बन्धो में विकास
- सार्वजनिक आन्दोलन मे जन सहयोग प्राप्त करना।

बनर्जी ने अपने इन आदर्शो की प्राप्ति में कभी भी उदासीनता नहीं बरती। उनकी सोच थी कि वैधानिक आन्दोलन इंग्लैण्ड तथा भारत दोनों में चलाया जाना चाहिये। बनर्जी के जीवन में कई ऐसे क्षण आये थे, जब वे चाहते तो उग्रवादी बन सकते थे किन्तु उन्होनें मुसीबतों के समय बहुत संयम से काम लिया और सांविधानिक मार्ग से विचलित नही हुए।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को अंग्रेजो की न्यायप्रियता और निष्पक्षता पर पूरा विश्वास था किन्तु उनकी देशभक्ति उनके लिबरवाद से कहीं अधिक मजबूत थी। स्वदेशी आन्दोलन के समय में भी वे बहुत लोकप्रिय थे। जनता सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को जन–आन्दोलन के प्रतीक मानती थी। बनर्जी अपने अधिकारो के सांविधानिक संघर्ष को उपयुक्त मानते थे। बनर्जी ने देश की समकालीन प्रवृत्ति का अध्ययन करके ब्रिटिश साम्राज्य को चेतावनी दी थी कि वे अन्याय पक्ष को दूर करें।

बनर्जी के स्वशासन सम्बन्धी विचार

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने विविध पक्षो में अपने सारगर्भित विचारों को रखा। भारत के लिए स्वशासन की प्राप्ति उनकी हार्दिक इच्छा थी किन्तु वे ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर ही स्वराज्य प्राप्त करना चाहते थे। बनर्जी ने स्वशासन से सम्बन्धित अपने विचारों को बड़े पैमाने पर प्रस्तुत किया था। वे स्वशासन की प्राप्ति को ब्रिटिश साम्राज्य प्रशासन तथा आत्म सुरक्षा के हित में मानते थे। उन्होनें भविष्य दृष्टा की भांति यह विचार रखा था कि भारत को स्वशासन सौपंना स्वंय ब्रिटिश साम्राज्य के हित में होगा। उन्हें यह विश्वास था कि यदि भारत को स्वशासन दे दिया गया तो छः वर्ष की अवधि में अराजकता पूरी तरह से समाप्त हो जायेगी। उनकी सोच थी कि स्वशासन से सुशासन की स्थापना होती है। वे जनता की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए स्वशासन को आवश्यक मानते थे। उनका मानना था कि किसी भी पराधीन राष्ट्र में पातत्र्जलि, बुद्व और बाल्मीकि पैदा नहीं हो सकते। उन्होनें स्वशासन की मांग करते हुए यह कहा था कि वह स्वशासन केवल अपने लिए नहीं मांगता है, बल्कि वह स्वशासन की मांग सम्पूर्ण भारत के लिए करता है।

बहिष्कार तथा स्वदेशी के सम्बन्ध में विचार

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी को स्वदेशी के प्रणेता माना जाता है, बंग–भंग के समय जनता को संगठित करने वालों में उनका नाम सर्वोपरि था, स्वदेशी तथा बहिष्कार के विचार ने जनता को ध्यान में अपनी ओर आकर्षित किया था। वे

जनता को स्वदेशी का प्रण याद दिलाते थे, उस प्रण की भाषा बनर्जी ने स्वंय तैयार की थी, जिसमें जनता यह संकल्प लेती है कि वह स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग तथा विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करेगी। वे सचमुच पीड़ित बंगाल के मुखर प्रतिनिधि बन गये थे। कांग्रेस के मंच से औद्योगिक चेतना फैलाने में बनर्जी ने सदैव महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया। बंगाल के अनेक गांवो के लोगो ने समय–समय पर आयोजित सभाओं में स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का संकल्प लिया। बंग–भंग के बाद जिस तरह से बहिष्कार आन्दोलन शुरू हुआ वह वहां पर एक अभिनव प्रयोग था। इस आन्दोलन ने गांधी के विराट आन्दोलन की आधार भूमि तैयार की थी। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी एक के बाद एक सभायें करते तथा जनता, युवाओं एवं शिक्षार्थियों को स्वदेशी का व्रत लेने के लिए प्रेरित करते थे। उन्होनें इस आन्दोलन मे पूरी ताकत लगा दी थीं युवा–उत्साह चरम पर पहुँच गया था। बनर्जी स्वदेशी वस्तुओं को अपने कंधे पर रखकर बेचते, विदेशी वस्तु–विक्रेताओं के यहाँ घरना देते तथा देशवासियों को स्वदेशी का पाठ पढ़ाते थे। घरों में महिलाओं ने स्वदेशी के विचार को उत्साहपूर्वक ग्रहण किया। बनर्जी ने एक बार स्पष्ट किया था।[1]

उनकी पाँच वर्षीया नातिन ने एक रिश्तेदार द्वारा भेंट किये विदेशी जूतों को लेने से मना कर दिया था। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को उस काल में एक प्रसिद्व डाक्टर ने बताया था कि एक छोटी सी लड़की बेहोशी हालत में भी चिल्ला रहा थी कि मैं विदेशी दवा नही पिऊँगी।

---

[1] एस0के0 बोस, आधुनिक भारत के निर्माता सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग,भारत सरकार 2006 पृ0सं0 98, 99।

स्वदेशी तथा बहिष्कार आन्दोलन के कई पहलू थे, जिन्हें आर्थिक, शैक्षणिक तथा राजकीय रूप में रखा जा सकता था, जहाँ तक इसके आर्थिक पहलू का प्रश्न था तो इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इसने बंगाल तथा देश के अन्य भागों में औद्योगिक पुनरूत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

सरकारी सेवा सम्बन्धी विचार

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने यह मांग रखी थी कि भारतीयों को सरकारी नौकरियों के लिए ली जाने वाली प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठने का अवसर मिले, उन्होनें कहा कि भारतीयों को भारत तथा इंग्लैण्ड दोनों स्थानो पर होने वाली परीक्षाओं में बैंठने का अवसर मिलना चाहिये। हमें परीक्षाओं में बैठने से इसीलिए रोका जाता है कि हम भारत के निवासी है, हमारा भारतीय होना ही हमारी अयोग्यता बन गया है हमारा अपराध यह है कि हम भारत के निवासी हैं, हमारा अपराध यह है कि हम अश्वेत हैं। उन्होनें कहा कि हमें इस बात का गर्व है कि हम भारतीय हैं। बनर्जी ने वर्क के इस सिद्वान्त पर चलने का प्रयास किया कि राजनीतिक मतभेदों को हल करने के लिए समझौता ही एक सबसे उपयुक्त उपाय है। स्थानीय स्वायत्त शासन मंत्री बनने के बाद सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने कई महत्वपूर्ण कार्य किये। उन्होनें स्थानीय स्वशासन की संस्थाओ को बहुत हद तक लोकतंत्री रूप प्रदान किया, उन्होनें समूचे बंगाल प्रान्त में स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं के पुनर्गठन करने के लिए बंगाल म्युनिसिपल एक्ट के संशोधन का प्रस्ताव रखा। उन्हें कलकत्ता के नागरिकों के साथ किए

गये अन्याय के निराकरण का अवसर मिला। बनर्जी ने 1921 में म्युनिसिपल एकट में संशोधन रखते हुए कहा था–बीस साल आये और चले गये। मैं बराबर यह भविष्यवाणी करता रहा हूँ कि स्थानीय स्वशासन का वरदान मेरी जन्म नगरी को पुनः प्राप्त होगा। नये विधेयक का उद्देश्य मताधिकार का विस्तार तथा निगम के रूप का लोकतंत्रीकरण करना था। प्रतिनिधियों का निर्वाचन व्यापक मताधिकार के आधार पर कराने का प्रबंध किया गया। निगम में अस्सी प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होने लगे। उन्हें निगम की आमदनी के नियंत्रक का अधिकार मिल गया। अधिनियम में निगम के कार्य संचालन के लिए एक मुख्य कार्याधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी, जिसे निगम के महापौर के अधीन रखा गया।

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के निगम के अर्न्तगत उठाये गये कुछ कदमों की आलोचना की गयी, उनके असहयोगियों ने उनका जगह–जगह पर असहयोग भी किया। 1923 में म्युनिसिपल एक्ट के पास हो जाने के बाद उनके जीवन का एक सपना पूरा हो गया।

राष्ट्र की एकता तथा राष्ट्रीयता विषयक विचार

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी राष्ट्र की एकता के उद्घोषक थे। उनकी सोच थी कि किसी भी देश की एकता ही वहां की स्वतंत्रता के संघर्ष का मार्ग प्रशस्त करती है। संविधानिक आन्दोलनों की सफलता एकता पर ही निर्भर करती है। राष्ट्रीय एकता बौद्विक आधार पर ही नहीं अपितु भावानात्मक आधार पर

स्थापित की जानी चाहिये। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी आजीवन राष्ट्रीय एकता के लिए प्रयास करते रहे। उन्होनें इण्डियन एसोसियेशन के माध्याम से इसे अमली जामा पहनाने में कोई कसर नही छोड़ी । वे इस संघ की आत्मा थे। यह एसोसियेशन राष्ट्र की एकता और महत्वकांक्षा का प्रतिनिधि तथा प्रतीक था। इसके नामकरण के पीछे भी यही भाव निहित था कि वह भारतीय एकता को प्रोत्साहित करे। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने देश के अर्न्तगत किये सघन दौरों मे देश में एकता, जागरण और राष्ट्रीय चेतना को उद्भूत करने में प्रभावी पहल की। उनके द्वारा भारत में यह पहली बार प्रयास किया गया कि राजनीतिक स्तर पर भारत एक राष्ट्र के रूप में संगठित हो। भारत की एकता तथा राष्ट्रीयता के लिए बनर्जी ने भगीरथ प्रयत्न किया था, जिसे उनकी सबसे बड़ी देन कहा जा सकता है। वे एकता के संदर्भ में गैरी बाल्डी तथा मैजिनी का उदाहरण अपने भाषणों में खास तौर पर देते हुए कहते थे कि इन दो महान विभूतियों के निर्देशन में इटली ने एकता की महान धारणा को प्राप्त करने में सफलता अर्जित की।[1]

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी अपने विचारों में पक्के उदारवादी थे। उनमें प्राचीनता तथा नवीनता का अद्भुत संगम था। उनकी यह बहुत बड़ी देन थी कि उन्होनें नैतिक मूल्यों को राजनीति के साथ समाविष्ट किया, जिसका पाठ आगे चलकर भारतीयों ने गांधी जी के नेतृत्व में पढ़ा। बनर्जी स्वशासन तथा स्वदेशी की धारणा को राजनीतिक स्तर पर समझने तथा स्पष्ट अभिव्यक्ति देनेवाले पहले

---

[1] डा0 अमरेश्वर एवं डा0 रामकुमार अवस्थी, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, जयपुर, रिसर्च प्रकाशन, 1997, पृ0सं0 201, 202 ।

व्यक्ति थे। वे सही अर्थो में राष्ट्रीय नेता बन गये। उनकी वैधानिक साधनों के अतिरिक्त अन्य किसी भी साधन में आस्था नही थी। वे असहयोग को एक निषेधात्मक विचार धारा मानते थे। उनकी वैधानिक रीति–नीति का सार था कि आवश्यक होने पर सरकार से सहयोग करो और आवश्यक होने पर सांविधानिक रूप से विरोध करने से मत चूको, जो कुछ सुधार और अधिकार हाथ में लगे, उन्हें ले लो तथा और अधिक पाने के लिए संघर्षरत रहो। बनर्जी न तो सरकार से पूर्ण सहयोग के समर्थक थे और न पूर्ण असहयोग के, उनका सिद्वान्त था कि जहाँ आवश्यक हो वहां विरोध और जहां संभव हो वहां सहयोग किया जाना चाहिये। वे विरोध के लिए विरोध के पक्ष में कभी नहीं रहे। बनर्जी बंग–भंग विरोधी आन्दोलन के प्रमुख नेता थे, जिसको गोखले ने जनभावना का आश्चर्यजनक ज्वार और राष्ट्रीय प्रगति के इतिहास में युगान्तकारी घटना कहा था। स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग तथा विदेशी माल के बहिष्कार का सन्देश देने वालों में बनर्जी का भी एक प्रमुख स्थान था। उन पर कई प्रकार के आरोप भी लगाये गये किन्तु यदि उनकी तह में जाकर सोचा जाये तो यह तथ्य उभरकर सामने आयेगा कि वे आजीवन राष्ट्रसेवी रहे। उन पर लगाये गये आरोप सत्याधारित नहीं थे। उनका मानना यह था कि जहाँ तक हो सके तो जनता को ब्रिटिश शासन के विरोध से बचना चाहिये। आन्दोलन, आन्दोलन, आन्दोलन यही उनका सिहंनाद था। बनर्जी पूरी तरह संविधानवादी थे, वे अवसर एवं समय की मॉग को ध्यान में रखकर समाचार पत्र एवं सभा मंच के माध्यम से सरकार के विरूद्व जमकर संघर्ष करने में कभी भी नहीं चूकते थे, सरकार ने उन पर युवाओं को गुमराह करने का आरोप भी

लगाया किन्तु जब उन्हें यह महसूस हुआ कि अब सरकार के साथ सहयोग करने की आवश्यकता है, तब उन्होनें अपने सार्वजनिक जीवन एवं लोकप्रियता की चिन्ता न कर सहयोग का मार्ग अपनाया।

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी का जीवन भर यह नारा रहा कि मैं भगवान तथा जनता का भक्त हूँ। भारत की एकता तथा राष्ट्रीयता के लिए वे जीवन भर प्रयास करते रहे। बनर्जी मातृभूमि की सेवा को सबसे बड़ा धर्म मानते थे। वे राष्ट्रहित में बड़े से बड़ा बलिदान करने को तैयार रहते थे। उनके निस्पृह तथा एक समर्पित देशभक्त होने का इससे बड़ा दृष्टान्त और कौन सा हो सकता है कि अपने बेटे के निधन से शोक सन्तप्त होने पर भी जिस प्रकार से उन्होनें इण्डियन एसोसियेशन की उद्‌घाटन सभा में भाषण दिया, वह अपने आपमें बेमिसाल था। 23 दिसम्बर 1911 को पत्नी का देहान्त होने पर भी वे तीन दिनों तक लगातार कांग्रेस के अधिवेशन में सक्रियता से भाग लेते रहे। वे जीवन पर्यन्त सार्वजनिक आन्दोलनों का संचालन करते रहे। वे हर वर्ष कांग्रेस अधिवेशन के केन्द्र बिन्दु रहे। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने ही सबसे पहले कांग्रेस को राष्ट्र की गैर सरकारी संसद की संज्ञा प्रदान की , उसे एक संगठित भारत की कांग्रेस कहकर पुकारा। यह सच है कि अन्त में बनर्जी राष्ट्रीयता की मुख्य धारा से अलग हो गये थे किन्तु फिर भी यह मानना होगा कि सुरेन्द्र नाथ बनर्जी राष्ट्रीयता तथा एकता के महान शिल्पी तथा भारत में राजनीतिक चेतना के जनक थे। गांधी जी उन्हें एक योद्धा कहते थे जो पूरी तरह से समाचीन था।

स्वाधीनता आन्दोलन और गोपाल कृष्ण गोखले

गोपाल कृष्ण गोखले एक नाम नहीं अपितु वह शब्द चित्र थे, जिसमें ईमानदारी, निश्छलता, निःस्वार्थ प्रियता, कर्मठता, नैतिकता एवं वैधानिकता को उन्होनें एक साथ निहारा जा सकता था। गोखले में अनेक गुण थे किन्तु उनमें एक मुख्य गुण यह था कि वे बहुत ही छोटी उम्र में अपने को राष्ट्र सेवा के लिए समर्पित कर दिया था। गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म उस काल में हुआ था, जब देश आजादी का पहला संघर्ष कर चुका था। उनका जन्म भारतीय इतिहास के एक ऐसे युग में हुआ था, जिसने उनका निर्माण किया, किन्तु यह भी सच है कि अपने जीवन काल में स्वयं गोखले ने उसका भी निर्माण किया इसके पूर्व कि गोखले का स्वाधीनता आन्दोलन में क्या योगदान रहा, का उल्लेख किया जाये, के पहले यहाँ पर उनके जीवन के ऊषाकाल पर विचार करना प्रांसगिक होगा।

जन्म और शिक्षा

गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म 9 मई 1866 को तत्कालीन बम्बई प्रेसींडेसी की रत्नागिरि जिले के कोतलुक नामक गॉव में हुआ था। गोखले अपेक्षाकृत एक सम्पन्न मध्यमवर्गीय चित पावन ब्राह्मण परिवार में जन्में थे। चितपावन ब्रह्ममणों की कुछ निजी विशेषताएं थी, वे व्यवहार परायण, महत्वाकॉक्षी एवं मेहनती थे। रत्नागिरि जिला का अपना एक अलग इतिहास रहा है। इसे यदि महाराष्ट्र प्रान्त का नररत्न गर्भा जनपद कहा जाये तो इसमें

कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसे उल्लेखनीय नेताओ का जन्म जिला होने का गौरव प्राप्त रहा है। गोपाल कृष्ण गोखले के पिता का नाम कृष्ण राव श्रीधर गोखले तथा माता का नाम सत्यभामा बाई था। गोखले के पिता बहुत ही स्वाभिमानी एवं ईमानदार थे, जिसके प्रभाव से गोपाल कृष्ण अछूते नही रहे। गोपाल कृष्ण गोखले को पवित्रता ओर प्रेम की शिक्षा अपनी माँ से प्राप्त हुयी थी। गोपाल कृष्ण गोखले की प्रारंभिक शिक्षा के बारे में अधिक जानकारी का उल्लेख प्राप्त नही है, उन्होनें गांव में ही अपनी प्रारंभिक शिक्षा पूरी की। वे शिक्षाकाल में ही अपनी ईमानदारी तथा सत्यप्रियता के कारण चर्चित हो गये थे। [1]

गोखले ने 18 वर्ष की आयु में स्नातक कर लिया। 1884 में बी0ए0 करने के बाद वे पूना के एक अंग्रेजी विद्यालय में अध्यापक हो गये, पूना का कालेज कालान्तर में फर्ग्युसन कालेज के रूप में विश्रुत हुआ, गोखले इस कालेज में 1902 तक बने रहे, यहीं से वे प्रिसिंपल के पद से सेवा निवृत्त हुए। गोखले महादेव गोविंद रानाडे से बहुत प्रभावित हुए। उन्होनें रानाडे से कर्तव्य परायण एवं बुद्विमता जैसे गुण ग्रहण किये। रानाडे ने गोखले को बम्बई की प्रमुख राजनीतिक संस्था सार्वजनिक सभा का मंत्री बना दिया कुछ ही दिनों बाद गोखले की गणना प्रान्त के नामचीन लोगो में होने लगी। 22 वर्ष की कम आयु में ही गोखले बम्बई विधान परिषद के सदस्य बन गये।

---

[1] त्र्यंबक, रघुनाथ देवगिरीकर, आधुनिक भारत के निर्माता गोपाल कृष्ण गोखले, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1995, पृ0सं0 06–07।

गोपाल कृष्ण गोखले के सक्रिय जीवन का प्रारंभ शिक्षा क्षेत्र से हुआ, जिसकी समाप्ति संवैधानिक आन्दोलन के शतरंजी दाँवपेचों से हुयी गोखले का जीवन उत्साह, ईमानदारी एवं कर्मनिष्ठा से ओत–प्रोत था, जिसने सारे देश को प्रेरणा प्रदान की। उन्होनें अपनी भूमिका दृढ़ता एवं आस्था के साथ निभायी, वे कभी विचलित नही हुये। राजनीतिक व्यवस्था के उतार–चढ़ाव गोखले को कभी भी राजनीतिक आदर्शो से विरत नहीं कर पाये। गोखले ने 1889 में कांग्रेस में प्रवेश किया। 1895 में उन्हें कांग्रेस का मंत्री बना दिया गया। वे वर्षो बम्बई कांग्रेस शाखा के मंत्री बने रहे। 1892 के भारतीय शासन सुधार अधिनियम की कमियों पर गोखले ने तर्कपूर्ण ढंग से प्रकाश डाला। गोखले 1897 में दक्षिण शिक्षा समिति के प्रतिनिधि के समय वेल्बी कमीशन के समक्ष गवाही देने के लिए इंग्लैण्ड गये। उन्होनें उसके समक्ष महत्वपूर्ण सुझाव दिये। गोखले इतिहास एवं अर्थशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका अर्थशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान तथ्याधारित था गोखले भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के सर्वप्रमुख नेता थे, उन्होनें लगभग एक दशक तक कांग्रेस का प्रभावी नेतृत्व किया। उन्होनें 1905 में बनारस कांग्रेस अधिवेशन का सभापतित्व किया। वे एक विश्रुत विधायक थे। गोखले 1901 से 1915 तक केन्द्रीय विधान परिषद के सदस्य रहे। उन्हें केन्द्रीय धारा सभा का एक बहुत प्रभावशाली सदस्य माना जाता था। वे एक कर्मठ राजनेता थे। उनके आकर्षक व्यक्तित्व से ब्रिटिश नेता भी प्रभावित थे। वे सत्यनिष्ठा एवं मातृभूमि के प्रति समर्पण भावना के कारण देश

तथा विदेश में लोगों की प्रशंसा के पात्र बन गये थे। उनका जीवन राष्ट्रीय पुर्ननिमाण एवं स्वतंत्रता के लिए समर्पित था।[1]

गोपाल कृष्ण गोखले के व्यक्तित्व निर्माण में अनेक संस्थाओं, विचारों तथा व्यक्तित्वों का योगदान था। उनके व्यक्तित्व विकास में प्रथमतः उनके पिता कृष्ण राव तथा माँ सत्यभामा का प्रमुख अनुदाय था, माता–पिता के विचारों तथा मूल्यों ने उन्हें सर्वप्रथम प्रभावित किया था। गोखले को अपनी माँ से धार्मिकता तथा उदारता की दीक्षा मिली थी। वे अपनी माँ की सादगी तथा सह्रदयता के जीवन भर कायल रहे। वे अपने जीवन के दुरूह क्षणों में माँ के आशीष– अम्बु का पान कर संघर्षी संकल्प को अन्तिम संरजाम देते थे, वे कठिन से कठिन समय में भी अडिग रहते थे। गोखले को अपने बड़े भाई से आदर्श जीवन जीने का प्रेरणा प्राप्त हुयी। गोपाल कृष्ण पर उनके भाई के निष्कपट व्यवहार का आजीवन प्रभाव रहा।

गोखले पर रानाडे का प्रभाव

जिनके व्यक्तित्व से गोखले सर्वाधिक प्रभावित हुए, उनमें से रानाडे का स्थान सर्वप्रमुख था, गोखले उन्हें अपना राजनीतिक गुरू मानते थे, हर कार्य में गोखले के लिए उनका निर्णय अन्तिम होता था। गोखले रानाडे की तरह अतीत के अध्ययन, वर्तमान के साफल्य तथा आशान्वित भविष्य की कल्पना करते थे। एक कर्मठ एवं सच्चे गुरू की तरह रानाडे ने गोखले को

---

[1] सतीश कुमार, उदारवाद और गोपाल कृष्ण गोखले, वाराणसी, वि0वि0 प्रकाशन, 1983, पृ0सं0– 35, 36 ।

अध्ययनशीलता, खोजी–रूचि, ज्ञान के प्रति गहरी आस्था, बौद्धिकता, ईमान प्रियता, आध्यात्मिकता एवं नैतिकता की दीक्षा एवं प्रेरणा प्रदान की। गोखले की सत्यनिष्ठा, सहिष्णुता, जनास्था, आशावादिता, दृढ़निश्चितता पर रानाडे का पूरा प्रभाव था । गोपाल कृष्ण गोखले ने अपने गुरू रानाडे की तरह जनसाधारण को शिक्षित करने शासकों ह्दय परिवर्तन तथा उदारवादी विचारों द्वारा संवैधानिक प्रगति के लिए अथक प्रयास किया।

गोखले तथा रानाडे दोनों का ब्रिटिश उदारता एवं न्यायप्रियता में विश्वास था। रानाडे तथा गोखले जैसी विभूतियों के सानिध्य की तुलना प्रातः कालीन सूर्य एवं कमल के सम्बन्धो से की जा सकती है। इनकी प्रथम भेंट को पावन संगम की संज्ञा दी गयी। एक दशक से भी अधिक समय तक इन दोनों महापुरूषों ने राष्ट्रीय विकास एवं प्रगति की सम्भावनाओं पर चिन्तन किया। दोनों विभूतियों ने न केवल राजनीतिक दर्शन अपितु नित्यप्रति के आचरण में मानवतावादी उद्देश्यों का आदर्श प्रस्तुत किया। गोखले रानाडे के सामाजिक एवं आर्थिक विचारों से विशेष रूप से प्रभावित थे। इसके अतिरिक्त उन पर समर्पित देशभक्ति और धर्म निरपेक्ष राष्ट्रवादिता का प्रभाव अधिक था। गोखले रानाडे के व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक जीवन के आदर्श के अधिक कायल थे।

गोखले पर दादाभाई नौरोजी का प्रभाव

रानाडे के अतिरिक्त जिस महान पुरूष ने गोखले को प्रभावित किया, उनमे एक नाम दादाभाई नौरोजी का था। नौरोजी के जिन गुणों के गोखले कायल थे,

उनमें से प्रमख थे – उनकी सहिष्णुता, उदारता, बौद्विकता, शैक्षिक योग्यता, निस्पृह सेवाभाव, समस्याओं का गहन अध्ययन, संविधानवाद, ब्रिटिश शासन की उपादेयता पर विश्वास एवं आर्थिक अभिनिष्क्रमणता सम्बन्धी विचार इत्यादि। गोखले दादाभाई के प्रति पूरी श्रद्वा एवं सम्मान इसलिए भी रखते थे क्योंकि नौरोजी एक सच्चे देशभक्त एवं अनुभवी राजनीतिज्ञ थे। गोखले नौरोजी से इसलिए और भी प्रभावित थे क्योंकि दादाभाई ने जनता का दिल जीत लिया था, देश विदेश में उनका बहुत सम्मान था।

गोखले पर फिरोजशाह मेहता का प्रभाव

गोखले फिरोजशाह मेहता के भी कायल थे गोखले मेहता के सांगठनिक वैशेष्य से बहुत प्रभावित थे। वे मेहता की संगठनात्मक तकनीक को भी बहुत पसन्द करते थे। मेहता के इन गुणो के गोखले इतने अधिक मुरीद थे कि वे कहा करते थे कि उनके बिना उचित काम करने की अपेक्षा मैं मेहता के साथ मिलकर अनुचित कार्य करना श्रेयष्कर मानूँगां।

गोखले फिरोजशाह मेहता के मितभाषी एवं यर्थाथवादी दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित थे। गोखले के उदारवादी व्यक्तित्व निर्माण में मेहता का बहुत योगदान था। गोखले ने उदारवादी एवं संवैधानिक आधार पर कांग्रेस का जिस तरह से नेतृत्व किया था, उसके मूल में मेहता की ही प्रेरणा निहित थी। वे मेहता को असाधारण प्रतिभा का धनी व्यक्ति मानते थे। गोखले मेहता की तुलना चेम्बरलेन, पामर स्टोन एवं ग्लैडस्टन से करते थे। गोखले मेहता को

देश का ऐसा नेता मानते थे, जिनमें अनेक गुणों का समावेश होने के साथ–साथ वे एकमत नेता थे, जिसमें देश का नेतृत्व करने की क्षमता थी। गोपाल कृष्ण के स्वाधीनता आन्दोलन में योगदान को अधोलिखित बिन्दुओं के रूप में उकेरा जा सकता है।

ब्रिटिश शासन की उपादेयता पर विश्वास

गोपाल कृष्ण गोखले का अपने समकालीन उदारवादी नेताओं की तरह ब्रिटिश शासन की उपयोगिता पर विश्वास था। वे आँग्ल शासन को वरदान मानते थे। गोखले का यह विचार था कि ब्रिटेन के साथ संपर्क बनाये रखने में भारत का हित है। वे भारत के लिए ब्रिटिश संपर्क एक दैवीय व्यवस्था मानते थे, जिसके अर्न्तगत भारतीय अपनी प्रगति के लिए आवश्यक अवसर प्राप्त कर सकते थे। गोखले अंग्रेजो का इस रूप में आभार मानते थे कि उन्होनें आकर अराजक और अशान्त व्यवस्था को समाप्त कर भारत में शांति की स्थापना की।

गोखले पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन करते थे। वे पाश्चात्य शिक्षा को भारत के लिए एक मुक्तिदायिनी शक्ति मानते थे। वे यह मानते थे कि यदि भारत ने पाशचात्य शिक्षा का बहिष्कार किया तो इसके परिणाम अच्छे नहीं होगें ।

दृढ़ राष्ट्रीयता एवं एकता में विश्वास

गोखले रानाडे की तरह देशवासियों के समग्र विकास पर बल देते थे। उनका विश्वास था कि कठोर परिश्रम, त्याग और नैतिक विकास ही राष्ट्रीयता के दृढ़

आधार हो सकते हैं, राष्ट्रवाद के लिए एक पवित्र भावना का होना आवश्यक है वे भारतीयों की सामाजिक क्षमता तथा नैतिक चरित्र के उत्थान के प्रबल समर्थक थे। वे इन गुणों को भारतीय समस्याओं के निदान के कारक मानते थे। गोखले ने राष्ट्रीय एकता का संदेश दिया। वे हिन्दू– मुस्लिम एकता को भारत के लिए हितकर मानते थे। वे दोनों जातियों से समय–समय पर अपील करते थे कि दोनों सहिष्णुता तथा आत्मसंयम से काम लें। दोनों मैत्रीपूर्ण भावनायें पैदा करें।

गोपाल कृष्ण गोखले ने ऐसे किसी आन्दोलन का स्वागत नही किया, जिसके कारण इन दोनो जातियों में वर्ग चेतना के प्रसार का भय हो। इस दृष्टि से उन्होनें तिलक के उत्सवों के प्रति कोई रूचि नही दिखायी। गोखले ने राष्ट्रीय एकता तथा सार्वजनिक नीति के आध्यात्मीकरण से सम्बन्धित अपने विचारों को मूर्तरूप देने के लिए 12 जून 1905 को 'भारत समाज सेवक' जैसे अनूठे संगठन को जन्म दिया। सोसायटी के संविधान की प्रस्तावना में ब्रिटिश सम्बन्ध को भारतीय हित के लिए प्राकृतिक विधान मान लिया गया। प्रस्तावना में कहा गया कि सार्वजनिक का आध्यात्मीकरण अनिवार्य है। उनकी दृष्टि में ऐसी देशभक्ति की भावना जागृत होनी चाहिये। जो मातृभूमि के त्याग करने का प्रत्येक अवसर पाकर प्रफुल्लित हो उठे। गोखले का दृढ़ राष्ट्रीयता एवं एकता के सम्बन्ध में स्पष्ट विचार था। उनकी सोच थी कि हर भारतीय को इतना निर्भीक होना चाहिये कि संकट–आने पर वह अपने लक्ष्य से विरत न हो। गोखले खुद आध्यात्मिक सांचे में ढले हुए थे। वे अपनी सोसायटी को भी

उसी सांचे में ढालना चाहते थे। गोखले एक सृजनात्मक चिन्तक थे, इससे सिद्ध होता है कि उन्होनें भारत सेवक समाज को गठित कर अपनी सृजनात्मक अवधारणा की पुष्टि की थी। सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डिया सोसायटी की स्थापना निश्चित रूप से भारतीय इतिहास की एक बेजोड़ घटना थी।

राजनीति का आध्यात्मीकरण

गोखले की आध्यात्मिक राजनीति में आस्था थी। वे जीवन के राजनीतिक तथा सार्वजनिक पक्ष को आध्यात्मिकता से अनुप्राणित करना चाहते थे। उनका विशवास था कि धर्म को राजनीति का आधार होना चाहिये। उनकी सोच थी कि चरित्र निर्माण पर सबसे अधिक बल देना चाहिये। वे नैतिक चरित्र तथा सामाजिक उत्तर दायित्व के विकास को राष्ट्र निर्माण में प्रमुख मानते थे। गोखले एक राजनीतिक सन्यासी थे। वे हमेशा साध्य के ऊपर साधनों की प्रमुखता पर बल देते थे। उनका मानना था कि राजनीति जन–सेवा का एक साधन तभी बन सकती है जब उसका आध्यातमीकरण हो। उनकी भारत सेवक समिति का भी एक उद्देश्य यह था कि राजनीति और धर्म का समन्वय हो। उन्होनें यह चेतावनी दी थी कि स्वतंत्रता प्राप्त करने से पूर्व एक राष्ट्र को उसका पात्र बनना चाहिये। इसलिए हमारा यह धर्म है कि हम राजनीति को अपवित्र और गंदा न होने दें।

स्वशासन की धारणा पर बल

गोखले अपने समकालीन उदारवादी नेताओं की तरह भारत के लिए स्वशासन ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत चाहते थे। ब्रिटिश शासन की दृष्टि में वह एक ईश्वरीय देन था, इसलिए वे उससे पूर्णतः सम्बन्ध भारत के हित में नहीं मानते थे। स्वशासन के सम्बन्ध में गोखले के विचार थे–

- इंग्लैण्ड में होने वाले सभी परीक्षायें भारत में हो।
- भारतीयों को भारत मंत्री की सभा, वायसराय की कार्यकारिणी परिषद, बम्बई तथा मद्रास गर्वनरों की विधान परिषदों में समुचित प्रतिनिधित्व मिलें।
- सर्वोच्च एवं प्रान्तीय विधान परिषदों का विस्तार हो।
- स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं और नगर पालिकाओं की शक्तियों मे वृद्धि की जाये तथा उन पर सरकारी हस्तक्षेप तथा नियंत्रण अधिक न हो।

संवैधानिक साधनों पर विश्वास

गोखले का संवैधानिक साधनों तथा वैधानिक आन्दोलन पर अधिक विश्वास था। वे उग्र तथा असंवैधानिक साधनों के विरूद्ध थे। वे स्वशासन के लक्ष्य को सांविधानिक साधनो से प्राप्त करने के पक्ष धर थे । वे उग्रवादी या आतंकवादी साधनों को तत्कालीन भारतीय परिवेश के अनुकूल नहीं मानते थे।

गोखले ने सांविधानिक आन्दोलन में निष्क्रिय प्रतिरोध को शामिल नहीं किया। गोखले उग्रवादी अवधारणा के समर्थक नही थे।

गोखले का लक्ष्य था कि जनमत को स्वतंत्र भाषण संगठन, प्रेस सभाओं, जुलूसों तथा शिष्ट मण्डलों आदि संवैधानिक, साधनों द्वारा प्रभावी बनाकर सरकार पर दबाव डाला जाये कि भारतीयों की उचित मांगो को स्वीकार करे। सांविधानिक आन्दोलन द्वारा भारतीय जनमत को जाग्रत कर गोखले यह सिद्व करना चाहते थे कि भारतीय राजनीतिक दृष्टि से जागरूक और उत्तरदायी शासन के योग्य है।

गोखले नीति को उनके आलोचकों नें राजनीतिक भिक्षावृत्ति का नाम दिया था, लेकिन इस प्रकार का आरोप उचित नही था क्योंकि गोखले ने भिक्षावृत्ति का नहीं अपितु आत्मनिर्भरता और बलिदान का संदेश दिया था। गोखले नीति साध्य थी, जिसकी सफलता बलिदान पर आधारित थी। गोखले सत्ता के केन्द्रीकरण के पक्ष में नहीं थे। गोखले की मान्यता थी सत्ता का केन्द्रीकरण प्रशासकीय निरंकुशता को बढ़ाता है। गोखले भारत में वित्तीय, प्रशासकीय तथा आर्थिक सुधारों के पक्षधर थे, उन्होनें गोरी सरकार पर भारत के भौतिक तथा नैतिक उत्थान के लिए सुधारात्मक कदम उठाने के लिए दबाव डाला। गोखले ने अपने बजट भाषण में सरकार की दोषपूर्ण नीतियों को उजागर किया। उन्होनें सरकार के समक्ष रचनात्मक सुझाव भी प्रस्तुत किये।

प्रशासकीय सुधारों पर बल

गोखले ने सरकार पर अनवरत इस बात के लिए दबाव डाला कि वह जन कल्याण कर अधिक व्यय करें, सरकारी कर्मचारियों की संख्या कम करे,

सैनिक व्यय में कमी लाये तथा प्रशासनिक सुधार के लिए आवश्यक कदम उठाये। गोखले ने शिकायत की कि शिक्षा, सफाई और जनकल्याण आदि कार्यो में सरकार द्वारा समुचित धन व्यय नहीं किया जाता। गोखले ने नमक कर और रूई के माल पर उत्पादन कर हटाने की प्रबल मांग की। उन्होनें अपनी मॉगों में कभी असंवैधानिक मार्ग नही चुना। गोखले ने तत्कालीन ब्रिटिश प्रशासकीय व्यवस्था को भी आड़े हाथो लिया कि वह अधिकतर एक अनिश्चयात्मक नीति का अनुसरण करती है जबकि समय की मॉग है कि जनता के कल्याण के लिए एक दूरदर्शिता पूर्ण विस्तृत योजना बनाकर, उसे पूरी तन्मयता के साथ लागू किया जाये। गोखले ने बनारस कांग्रेस की अध्यक्षता करते हुए नौ तत्कालिक मॉगें रखते हुए सरकार से आग्रह किया था कि उन मांगो को शीघ्रातिशीघ्र पूरा किया जाये।, जिनमें से प्रमुख मांगे इस प्रकार थी–

1. विधान परिषदों का सुधार किया जाये ।
2. इण्डिया कौंसिल में कम से कम तीन भारतीय सदस्य नियुक्त किये जाये।
3. देशों के सभी जिलो में सलाहकार परिषदों का गठन किया जाये।
4. भारी सैनिक व्यय में कटौती
5. प्राथमिक शिक्षा का प्रसार
6. न्यायिक तथा कार्यपालिका विभागों का पृथक्करण

स्वदेशी तथा बहिष्कार आन्दोलन

गेपाल कृष्ण गोखले ने स्वदेशी तथा बहिष्कार आन्दोलन पर भी अपने विचार रखे। बहिष्कार को गोखले एक ऐसा अस्त्र मानते थे।[1]

जिसका प्रयोग तभी किया जाये जब अन्य कोई उपाय शेष न बचे। शासकों का ध्यान आकृष्ट करने का यह एक उपयोगी साधन था। गोखले इसे विधि सम्मत हथियार मानते थे। गोखले स्वदेशी के बहुत बड़े समर्थक थे। इसे उन्होनें पूरी तरी से ह्दयंगम किया था।

स्वदेशी आन्दोलन को गोखले ने उच्च कोटि का देशभक्तिपूर्ण आर्थिक आन्दोलन कहा। गोखले की दृष्टि में मातृभूमि के लिए त्याग सर्वोत्तम स्वदेशी भावना थी। स्वदेशी के आदर्श को व्यवहार में लाने के लिए आवश्यक विचारों की रूप रेखा प्रस्तुत करते हुए गोखले ने हथकरघा उद्योग का पुनरूत्थान करने और उसे आधुनिक रूप देने के महत्व पर अधिक बल दिया। गोखले का विचार था कि इससे किसानों की आय में वृद्वि होगी।

स्वतंत्रता पर बल

गोखले एक प्रमुख उदारवादी नेता थे। वे मानव विकास के लिए स्वतंत्रता को प्रमुख मानते थे। लार्ड कर्जन के प्रशासन की उन्होनें इसलिए आलोचना की थी कि उसने कौशल के लिए स्वतंत्रता का बलिदान करने की नीति अपनायी। गोखले को भारत की पराधीनता से मर्मान्तक चोट पहॅुचती थी।

---

[1] डा0 पुखराज जैन, राजनीति विज्ञान, आगरा, साहित्य भवन, 2004, पृ0सं0 124, 125 ।

गोखले स्वतंत्रता के लिए न्यायपालिका और कार्यपालिका का पृथक्करण चाहते थे। उनका मानना कि दोनों के संयुक्त हो जाने से नागरिक स्वतंत्रता खतरे में पड़ जायेगी। उनका सरकार के अनावश्यक नियंत्रण में विश्वास नहीं था। वे जीवन भर अपने राजनीतिक तथा आर्थिक उद्‌देश्य के लिए संघर्ष करते रहे। गोखले ने पश्चिम की धारणाओं को भारतीय हितो के अनुकूल ढालना चाहा। उन्होनें ब्रिटेन की भारत विरोधी सभी नीतियों का सांविधानिक तरीके से डट कर आलोचना की। उन्होनें भारत के आन्दोलन को अपने ढंग से आगे बढ़ाया।

गोखले का राजनीतिक वसीयत नामा

ब्रिटिश शासन द्वारा 1909 में किये गये मार्ले मिण्टो सुधार अधिनियम गोखले सहित किसी भी उदारवादी नेता रास नहीं आये। इस स्थिति में उस समय यह अनुभव किया जा रहा था कि कोई नया अधिनियम अस्तित्व में आये। इस आक्रोशित परिवेश में बम्बई के गवर्नर लार्ड विलिंगटन के आग्रह पर गोखले ने वैधानिक सुधारों की एक योजना तैयार की, जिसे युद्वोपरान्त क्रियान्वित किया जाना था। गोखले द्वारा तैयार की गयी योजना अगस्त 1917 में प्रकाशित हुयी, जिसे गोखले का राजनीति वसीयतनामा कहा गया । गोखले ने इस योजना को तैयार करने में फिरोजशाह मेहता तथा आगा खँा से परामर्श किया था। प्रान्तीय क्रेन्द्रीय शासन को लेकर इस योजना में कुछ सुझाव प्रस्तुत किये गये थे–

प्रान्तीय शासन

प्रान्तीय शासन के सबंध में कहा गया था–

1. प्रान्तीय शासन का अध्यक्ष गर्वनर हो, जिसकी नियुक्ति इंग्लैण्ड से हो।

2. 06 सदस्यों की एक कार्यकारिणी हो, जिसमें 3 भारतीय तथा 3 अंग्रेज सदस्य हो।

3. प्रत्येक प्रान्त में 75 से 100 सदस्यों के बीच की एक विधान परिषद हो, जिसके आधे सदस्यों का चुनाव विभिन्न क्षेत्रों तथा विशिष्ट वर्गो द्वारा हो, परिषद में विशेषज्ञों के अतिरिक्त और कोई गैर सरकारी सदस्य नामित न हो।

4. प्रान्त की कार्यकारी सरकार और विधान परिषद का आपसी सम्बन्ध लगभग वैसा ही होना चाहिये जैसा जर्मनी में इम्पीरियल गवर्नमेण्ट तथा रशिस्टैग (व्यस्थापिका) के बीच होता है, विधान परिषद को विधान निर्माण का अधिकार प्राप्त होगा, प्रान्तीय कराधन में कमी या वृद्वि करने के लिए विधान परिषद की अनुमति आवश्यक होगी।

5. इस प्रकार पुर्नगठित विधान परिषद के नियंत्रण में कार्य करने वाली प्रान्तीय सरकार को प्रान्त के आन्तरिक प्रशासन का दायित्व सौंप दिया जाना चाहिये। उसे स्वतंत्र वित्तीय अधिकार प्रदान कर दिये जाने चाहिये।

6. प्रान्तीय स्वशासन की यह योजना उस समय तक अधूरी रहेगी जब तक दो कर्य पूरे न हों–

7. जिला प्रशासन को उदारवादी बनाया जाये, जिलाधीश के साथ अशतः निर्वाचित और नामित छोटी जिला परिषद को सन्नद्व किया जाये।

8. स्थानीय स्वशासन का पर्याप्त विस्तार हो, जिससे ये स्थानीय संस्थायें यथा–ग्राम पंचायते, म्युनिसिपल बोर्ड, ताल्लुका बोर्ड और जिला–बोर्ड इन्हें वित्तीय अधिकार दिया जाये।

केन्द्रीय शासन से सम्बन्धित सुझाव थे–

1. केन्द्रीय शासन को प्रान्तीय शासन पर नियंत्रण का अधिकार केवल नाम मात्र के लिए होगा यह सुझाव दिया गया कि विभागो का पुनगर्ठन कर केवल छः विभाग तथा छः सदस्य रखे जायें–

- आन्तरिम मामले
- वित्त विभाग
- विधि विभाग
- प्रतिरक्षा विभाग
- संचार (रेल, डाक तथा तार) विभाग
- रेल विभाग– इनमें से कम से कम दो सदस्य भारतीय होने चाहिये।

2. केन्द्र की विधान परिषद का नाम भारत की विधान सभा होना चाहिय, इसकी शक्तियों में वृद्बि कर दी जानी चाहिये, सदस्य संख्या 100 होना चाहिये, इस सभा में सरकारी बहुमत का सिद्वान्त तब तक लागू रहे जब तक प्रान्तीय स्वायत्ता के संदर्भ में की गयी व्यवस्था का पर्याप्त अनुभव प्राप्त न हो जाये।

3. इस प्रकार गठित भारत सरकार को वित्तीय मामलों मे भारत–मंत्री के नियंत्रण में कम से कम रखा जाना चाहिये, भारत मंत्री की परिषद को समाप्त कर दिया जाना चाहिये। उसकी स्थिति धीरे–धीरे एक उपनिवेश मंत्री जैसी हो जानी चाहिये।

अन्य सुझाव

1. स्थल तथा नौ सेना में भारतीयो को कमीशन (अधिकारी पद) दिया जाना चाहिये। उनके लिए शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया जाना चाहिये।
2. इस योजना में मुसलमानों तथा अन्य अल्पसंख्यकों के पृथक तथा प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व की व्यवस्था को स्वीकार कर लिया गया था।

गोखले द्वारा प्रस्तुत राजनीतिक वसीयतनामा में विवेचित मुस्लिम वर्ग से जुड़ी व्यवस्थाओं पर संदेह व्यक्त किया गया, शेष प्रयास के सम्बन्ध में उन्हें रचनात्मक राजनीतिज्ञ की संज्ञा प्रदान की गयी। गोखले भारत के एक प्रमुख उदारवादी नेता थे, जिन्हे गांधी जी ने अपना राजनीतिक गुरू माना था। गोखले का कार्य पूर्णतः संविधानवादी था, उनकी पद्वति में बल प्रयोग, विदेशी आक्रमण की सहायता और अपराधयुक्त गतिविधियों का विरोध सम्मिलित रहता था। उन्हें त्रयीनीति– (प्रार्थना, पुर्नविचार तथा प्रतिरोध) का नेही कहा गया। वे संवैधानिक आन्दोलन को दबाव की राजनीति तक सीमित रखते थे।

गोखले के नेतृत्व में भारतीय उदारवाद सर्वोच्च एवं परिपक्व स्थिति तक पहुँच गया था, गोखले छोटी से उम्र से ही अपने को देश सेवा में सन्नद्व कर लिया था। तिलक उन्हें भारत का रत्न कहते थे, जिसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं है। प्रतिक्रियावादी तथा गरम दल वाले उन्हें एक दुर्बल ह्नदय उदारवादी तथा एक छिपा हुआ राजद्रोही मानते थे,, जो उचित प्रतीत नहीं होता, वे वस्तुतः आदर्श जीवन के साक्षी थे। गोखले ने सदैव देश हित में कार्य किया।

निष्कर्ष

1889 से 1905 तक का युग उदापंथी युग के नाम से जाना जाता है किन्तु इस युग के नेताओं मे दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, महादेव गोविंद रानाडे, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी तथा गोखले जैसे कई उदारवादी विभूतियॉ हुई, जिन्होनें कांग्रेस के जन्म से पूर्व से लेकर उग्रवाद के जन्म के पूर्व तक स्वाधीनता आन्दोलन में यथाशाक्य सहयोग प्रदान किया। दादाभाई नौराजी भारतीय राजनीति के पितामह थे। उन्होने भारत से लेकर भारतेत्तर राष्ट्रीय आन्दोलन को धार में कोई कोताही नहीं की। उनका अनुदाय सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा। तत्पश्चात सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जैसे प्रतिभाशाली राष्ट्रधर्मी पुरोधा ने भी स्वातन्त्रय संघर्ष के अगसारण में अगुवा रहे। वे अपने जीवन लगभग आठ दशको में लगभग छः दशक तक राष्ट्रसेवी रहे। उनकी प्रभावी भूमिका के कारण ही उनको भारत का ग्लैडस्टन कहा गया। उनकी तुलना सिसरो तथा वर्क से की गयी।

महादेव गोविन्द रानाडे की भी उदारवादी आन्दोलन में प्रभावी पहल रही। इनके योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। रानाडे, उदारवादी आन्दोलन के एक सशक्त स्तम्भ कहे जाने वाले गोपाल कृष्ण गोखले के गुरू थे। वैसे तो गोखले फिरोजशाह मेहता से भी बहुत प्रभावित थे किन्तु रानाडे के सानिध्य–सलिल में अवगाहन करने से उनके जीवन को नवोन्मेष प्राप्त हुआ।

गोपाल कृष्ण गोखले उदारवादी आन्दोलन के शीर्ष सूरमा थे। उन्हें भले ही प्रतिक्रियावादियों ने एक दुर्बल ह्वदय उदारवादी तथा छिपा हुआ राजद्रोही कहा हो, किन्तु वे इन सब आलोचनाओं से ऊपर उठकर एक सच्चे देशभक्त थे, वे देश के

लिए जिये और देश के लिए मरे भले ही उनकी त्रयी नीति की आलोचना की गयी हो किन्तु देश, काल एवं परिस्थितियों की मांग के मुताबिक उनके उस काल कें निर्णय सर्वथा उचित थे। उग्रवादियों ने उनकी नीति को राजनीतिक भिक्षावृत्ति की नीति कहा किन्तु यदि समय के तराजू पर उनके तेवरों को तौला जाय तो वे एक दम खरे थे। समय की कसौटी पर कसने से भी खरे उतर रहे थे। उनका योगदान समाचीन एवं सराहनीय था। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि स्वाधीनता आन्दोलन को आगे बढ़ाने में उदारवादी नेताओं की प्रमुख भूमिका रही ।

पंचम् - अध्याय

स्वाधीनता आन्दोलन और उग्रवादियों की विचारधारा कार्य पद्धति और साधन

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अगले चरण को उग्रवादी आन्दोलन के नाम से अभिप्रेत किया गया। उदारवादी, मित्वादी या नरमपंथी विचारधारा का प्रभाव तो वैसे 1905 तक तथा कुछ सीमा तक उसके वाद भी रहा किन्तु 19वीं सदी के अन्त तथा 20वीं सदी के प्रारंभ मे कुछ ऐसी घटनायें घटी, जिनके कारण मितवादी विचारधारा के स्थान पर उग्रवादी विचारधारा का उद्‌भव हुआ। कांग्रेस नेतृत्व की आवेदन–निवेदन की नीति में निमग्नता ने देश और स्वंय कांग्रेस के अन्दर एक प्रकार से असंतोष पैदा कर दिया, बहुत से कार्यकर्ताओं ने देखा और महसूस किया कि आवेदन–निवेदन तथा ब्रिटेन में मात्र प्रचार से कुछ हासिल होने वाला नहीं है, फलतः यथार्थ के फलक पर दृष्टिपात करने वालों के अनुभव के फलस्वरूप देश की राजनीति में एक नवीन विचारधारा का उद्‌भव हुआ, जिसे उग्रवादी विचारधारा के नाम से जाना गया [1]।

कांग्रेस के अन्दर आवाजें उठनें लगी कि संवैधानिक तरीकों से स्वाधीनता के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। तिलक तथा अरविंद घोष जैसे प्रमुख उग्रवादी नेताओं ने कांग्रेस की तीखी आलोचना की, दामोदर हरि चाफकर बन्धु ने कांग्रेस को लताड़ते हुए कहा कि कांग्रेसी नेता सिर्फ वाग्वीर हैं, रवीन्द्र नाथ ठाकुर, स्वामी विवेकानंद तथा स्वामी श्रद्वानंद ने भी कांग्रेस को आड़े हाथों लिया। इन देशभक्तों ने कहा कि रानाडे के समाज सुधार आन्दोलन से कछ होने वाला नहीं है।

[1]1. अयोध्या सिंह, भारत का मुक्ति संग्राम, नई दिल्ली, मैक मिल.इण्डिया लि0, 1997 पृ0सं0 .1571
2. वही, पृ0सं0 – 157 ।

प्रो0 के0 सुन्दर रमन अय्यर ने भी 1903 के कांग्रेस अधिवेशन में भाग लिया। उन्होनें भी कांग्रेस की नीति के दोष उजागर करते हुए कहा कि कांग्रेस अपने को राष्ट्रीय कहती है किन्तु वह है नहीं। उसमें विदेशी प्रभुत्व को उखाड़ फेंकनें की क्षमता नहीं हैं, वह पूरी तरह एक राजभक्त संस्था है, जिसे तैयार कर लैंसडाउन जैसे वायसराय ने खुद स्वीकार किया है। भारत में कांग्रेस पार्टी के अन्दर राजनीतिक क्रांति के लिए कोई जगह नहीं है। इस तरह से कहा जा सकता है कांग्रेस–नेतृत्व की नीतियों में कमी के कारण उग्रवाद अस्तित्व में आया। यही उग्रवादी राष्ट्रवादी या नेशनलिस्ट कहलाय, गोखले और उनके समर्थक माडरेट कहलाये। राष्ट्रवादियों के नेता थे– बाल गंगाधर तिलक, विपिन चन्द्रपल अरविंद घोष तथा लाला लाजपता राय। कांग्रेस से बाहर होकर उग्रवाद मध्यमवर्गीय क्रांतिवाद के रूप में जाना गया। राष्ट्रवादी मितवादियों से राजनीतिक विचारों में जितना आगे थे, वे सामाजिक विचारों में उतना ही पीछे थे, यदि दोनो विचारों को लेकर एक नव नेतृत्व अस्तित्व में आया होता तो देश स्वाधीनता एवं समाजवाद के क्षेत्र में बहुत तेजी के साथ आगे बढ़ता।[1]

राष्ट्रवादी सामाजिक विचारों में बहुत पुरातन, पंथी थे, इसकी एक झलक के लिए प्रमुख उग्रवादी नेता तिलक की एक सोच का साक्ष्य पर्याप्त है। 1890 में जब लड़कियों की वैवाहिक उम्र को 10 से बढ़ाकर 12 वर्ष किया गया तो तिलक ने इस सुधार का पुरजोर विरोध किया। माडरेटों के राजनीतिक विचारों के दौर्बल्य का एक प्रमुख कारण अंग्रेजी शिक्षा एवं पश्चिम का प्रभाव था।

नेशनलिस्टों ने माडरेटों पर पाश्चात्य प्रभाव को दूर करने के लिए देश में आधार की खोज के रूप में धार्मिक उत्सवों पर जोर दिया। तिलक ने महाराष्ट्र में

---

[1] 1. अयोध्या सिंह, भारत का मुक्ति संग्राम, नई दिल्ली, मैक मिल.इण्डिया लि0, 1997 पृ0सं0 1571 ।

शिवाजी तथा गणेश उत्सव प्रारंभ किया, बंगाल में काली उत्सव प्रारम्भ हुआ, इसके फलस्वरूप ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को फूट डालो ओर राज करो का अवसर प्राप्त हो गया। गोरों ने मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन के विरूद्व भड़काया।

कांग्रेस के भीतर माडरेटों तथा नेशनलिस्टों के बीच विरोध तथा टकराव 1895 से ही प्रारम्भ हो गया था। 14 जुलाई 1895 को तिलक के समर्थकों ने रानाडे तथा गोखले के अनुयायियों के हाथ से छीनकर पूना सार्वजनिक सभा को अपने अधिकार में कर लिया। उसके बाद रानाडे तथा गोखले ने दक्खिन सभा की स्थापना की। 1897 में तीन प्रमुख घटनायें घटी। पूना में प्लेग के संदर्भ में गोरे सैनिकों ने लोगों पर अत्याचार किये, फलतः दो अंग्रेज अधिकारियों–रैण्ड तथा आयर्स्ट की हत्या हो गयी। उस सिलसिले में चाफेकर बन्धु गिरफ्तार कर लिये गये, उन्हें सजाये मौत मिली। दूसरी घटना का सम्बन्ध गोखले से रहा, वे उस समय वेल्बी कमीशन के समक्ष गवाही देने के लिए इंग्लैण्ड गये थे। गोखले ने मैंचेस्टर गार्जियन से एक पत्र के हवाले से पूना में सैनिकों की कार्यवाही की निंदा की। उसके बाद संसद–भवन के एक कमरे में भी अपने वक्तव्य में उसी बात को दोहराया, जिससे इंग्लैण्ड में हलचल पैदा हो गयी।

गोखले जब भारत से इंग्लैण्ड वापस आये तो भारत सचिव के निर्देश पर बम्बई प्रेसीडेन्सी के गवर्नर सैण्ड हर्स्ट ने गोखले से अपने आरोपों को प्रमाणित करने के लिए कहा। इस पर गोखले ने अपने गुरू रानाडे से परामर्श किया, जिसके फलस्वरूप गोखले ने गोरी सरकार से यह कहकर माफी मांग ली कि जो समाचार उन्हें मिले थे, वे गलत थे।

उसी काल में एक घटना तिलक के साथ घटी, उन्होनें समाचार पत्र केसरी में शिवाजी के सन्देश–संदर्भ तथा शिवाजी–उत्सव की एक रिर्पोट छापने के कारण उन्हें राजद्रोह के सम्बन्ध में 1897 में डेढ़ वर्ष की कठोर सजा मिली, उनके समर्थकों ने भी तिलक पर माफी मांगने का दबाव बनाया लेकिन वे नहीं माने। गोखले द्वारा माफी मांगने के मुद्दे को इतना प्रचारित किया गया कि उन्हें 1897–1903 अर्थात सात साल तक कांग्रेस के मंच से अलग रहना पड़ा। प्रस्ताव पेश किये जाने के हठ के कारण तिलक 1899 में इण्डियन कांग्रेस कमेटी के सदस्य नहीं चुने गये। माडरेट तिलक को पसंद नहीं करते थे। 1902 तक राष्ट्रवादियों के चारों बड़े नेता–तिलक पाल लाल तथा अरविंद घोष माडरेटों को चुनौती देने लगे थे।

सरकारी रूख तथा माडरेट नेतृतव के आवेदन–निवेदन की नीति के कारण देश में असंतोष बढ़ रहा था, कर्जन– नीति ने देश के भीतर वह असंतोष पैदा कर दिया था जो लिटन के राज में नही हुआ था, माडरेट अपना रवैया बदलने को तैयार नही थे। 1904 में कांग्रेस–अधिवेशन के स्वागत समिति के अध्यक्ष के रूप में फिरोजशाह मेहता माडरेटों की सफलता पर गर्व महसूस किया। माडरेट नेता सफलताओं से संतुष्ट थे।

बाल गंगाधार तिलक, लाला लाजपतराय, विपिन चंद पाल तथा अरविन्द घोष जैसे प्रमुख उग्रवादी नेताओं या नेशनलिस्टों ने भारतीय राजनीति को एक नई दिशा प्रदान की, इन्होनें राष्ट्रीय आन्दोलन की रागिनी को नया स्वर प्रदान किया, उदारवादी नेताओं की नयी नीति का स्थान राष्ट्रीय आन्दोलन तथा क्रांति की मांग ने ले लिया। ये नेता उग्रवादी कहलाने लगे क्योंकि इनका दृष्टिकोण उदार अथवा सुधार वादी न होकर क्रांतिकारी था। ये ब्रिटिश साम्राज्य के घोर विरोधी थे। इन

नेशनलिस्टों का विचार था कि अंग्रेजो से अनुनय–विनय तथा प्रार्थना करने से कभी भी स्वतंत्रता प्राप्त नही होगी, स्वतंत्रता भीख मॉगनें से नहीं लड़कर हासिल की जाती है। उसके लिए उन्होनें स्वावलम्बन, संगठन तथा संघर्ष की आवश्यकता पर बल दिया।

तिलक ने कहा कि अपने उद्देश्यों से नही बल्कि अपने तरीकों, तेवरों, पद्वति से उनके दल ने उग्रवादी नाम प्राप्त किया है। उग्रवादियों का भी वही उद्देश्य था जो नरमपंथियों का था। उग्रवादी भी ब्रिटिश शासन को समूल उखाड़ फेंकने के पक्ष में नहीं थे किन्तु वे चाहते थे कि देश के प्रशासन में लोगो को भाग लेने की व्यापक शक्ति मिले, साथ ही उग्रवादियों की सोच यह थी कि नौकरशाही पर दबाव डाला जाये जिसके आधार पर वह यह अनुभव करे कि सब कुछ ठीक–ठाक ढंग से नही चल रहा है।

तिलक ने अपने दल की नीति को स्पष्ट करते हुए कहा था कि हम बिना प्रभावशाली नेतृत्व के नौकरशाही पर दबाव नही डाल सकते, हम केवल अधीनस्थ पदों पर आसीन हैं। इन प्रश्नों को लेकर माडरेटों से हमारा मतभेद है। उनका कहना था कि नरमपंथी अब भी आशा करते है कि प्रतिनिधि मण्डल या प्रार्थना पत्रों के माध्यम से ब्रिटेन के सार्वजनिक मत या लोगो को प्रभावित कर सकते हैं, पर उग्रवादियें को नरम पंथियों की इस पद्वति पर विश्वास नहीं रहा। हमारा उद्देश्य आत्मनिर्भरता है, भिक्षा वृत्ति नहीं। स्वदेशी आन्दोलन के अतिरिक्त उग्रवादियों की आस्था बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध पर थी ।

तिलक के अलावा अन्य उग्रवादी नेताओं ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये। लाला लाजपतराय ने भी इस बात को लेकर नरमपंथियों की आलोचना की कि

वे ब्रिटिश राष्ट्र से प्रार्थना की भाषा में बात करते थे उनका कहना था कि प्रार्थना तो हमें अपने लोगो तथा भगवान से करनी है, विदेशी हुकूमत से नहीं। अरविंद घोष को भी नरमपंथियों की पद्धति पर विश्वास नहीं था। लाल–बाल–पाल आदि राष्ट्रवादियों ने उग्रवादियों को अर्थ निरूपण किया। उग्रवादियों को उनकी पद्धति के आधार पर तीन वर्गो में बांटा गया था।

- क्रांतिकारी
- वे व्यक्ति जो क्रांतिकारियों के प्रति सहानुभूति रखते थे, साथ ही गुप्त रूप से उनकी मदद करते थे।
- विदेशी प्रभुत्व से मुक्ति चाहते थे किन्तु हिंसात्मक पद्धति के विरोधी थे। उदारवाद की तरह उग्रवाद भी दो विचारधाराओं में विकसित हुआ।

1. उग्रवादी
2. क्रांतिकारी।

दोनों विचारधाराओं मे मौलिक साम्यता थी, दोनो का एक लक्ष्य था– ब्रिटिश शासन से मुक्त पूर्ण स्वराज्य की स्थापना, उग्रवादी अशांतिपूर्ण तथा सक्रिय साधनों में विश्वास करते थे। उग्रवादियां का आतंकवाद पर विश्वास नहीं था। क्रांतिकारी हिंसा तथा आतंक में विश्वास करते थे।

उग्रवादियों की विचारधारा

उग्रवाद ब्रिटिश साम्राजय के प्रति क्रांतिकारी भावना का प्रतीक तो था ही, साथ ही वह भारतीय राष्ट्रीयता की उदारवादी प्रवृति और सुधारवादी नेताओं के विरूद्व भी एक प्रकार से शंखनाद था। कांग्रेस के 1904, 1905 तथा 1906 के

अधिवेशन में सांविधानिक सुधारों की आवश्यकता पर बल दिया। कांग्रेस ने यह भी मांग की कि विधान परिषदों का शीघ्र ही विस्तार किया जाये ताकि जनता को उसमे सही अर्थो में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके। उग्रवादियों ने स्वदेशी तथा बहिष्कार आन्दोलन प्रारम्भ किया, जिससे सांविधानिक विकास के इतिहास को एक नया आयाम मिला। उग्रवादियों की विचारधारा को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है[1]–

- एक राजनीतिक आन्दोलन को खड़ा करना।
- उग्रवादियों का उद्देश्य केवल कुछ बिन्दुओं तक सीमित नही था अपितु वे देश के प्रशासन में भारतीयों की अधिक सहभागिता चाहते थे, साथ ही वे ब्रिटेन द्वारा किये जा रहे भारतीयों के शोषण के समाप्त के पक्ष में थे। इस तरह उग्रवादी देश की विषम समस्याओं का निदान चाहते थे।
- इन विषम और बड़ी समस्याओ को दूर करने के उद्देश्य से वे राजनीतिक आन्दोलन चला रहे थे। वे स्वराज्य के लिए जनता में उत्साह उत्पन्न कर रहे थे।

उग्रवादियों का आन्दोलन अधोलिखित तकनीक पर आधारित था–

1. भारत के गौरवशाली अतीत से जनता को अवगत कराना।
2. लेगों में धार्मिक प्रेरणा पैदा करना।
3. राष्ट्रीय शिक्षा का पुर्नगठन।
4. विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार तथा स्वदेशी वस्तुओं को प्रोत्साहन।

---

[1] डा0 अमरेश्वर एवं रामकुमार अवस्थी, आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन, जयपुर, रिसर्च प्रकाशन, 1997 पृ0सं0 237, 238 ।

5. राजनीतिक क्षेत्र में ब्रिटिश शासन का असहयोग, आवश्यकता पड़ने पर निष्क्रिय प्रतिरोध का सहारा।
6. भारतीय भाषाओं तथा परम्पराओं के व्यापक प्रयोग पर बल तथा आन्दोलन के आधार के रूप में अंगीकार।

डग्रवादियों के राजनीतिक दर्शन ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के आधारभूत पहलुओं पर प्रभावी छाप छोड़ी।

उग्रवादियों की पद्वति

उग्रपंथियों का लक्ष्य स्वराज्य की प्राप्ति था। तिलक का स्पष्ट कथन था कि "कि स्वराज्य मेरा जन्म सिद्व अधिकार है, मैं इसे लेकर रहूँगा।" उग्रवादियों की सोच थी कि भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं के आधार पर शासन संस्थाओं का निर्माण हों। वे उदारवादिओं की पद्वति को प्रभावहीन मानते हुए सक्रिय विरोध की नीति को अपनाकर भारत के लिए एक स्वतंत्र राष्ट्रीय सरकार का निर्माण चाहते थे। उग्रवादी स्वराज्य को केवल राजनीतिक ही नही अपितु नैतिक तथा धार्मिक आवश्यकता भी मानते थे। उसे प्राप्त करना वे अपना मूल उद्देश्य घोषित किये थे। उग्रवादियों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सक्रिय प्रतिकार पर अपने को केन्द्रित किया। वे यह मानते थे कि भारत तथा ब्रिटेन में सम्बन्घ बेर–केर का है । वे यह भी जानते थे कि ब्रिट्रेन के साथ सहयोग करना भारतीय हित में नही है। उदारवादियों की अपेक्षाा उग्रवादी यह मानते थे कि राष्ट्रीय लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश साम्राज्य का खुला विरोध आवश्यक है।

उग्रवादियों का मानना था कि राजनीतिक भिक्षावृत्ति तथा ब्रिटिश कृपा की अपेक्षा भारतीय अपने ऊपर भरोसा रखें तो बेहतर होगा। उनकी पद्वति को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है–

अवज्ञा की नीति

उग्रवादियों ने अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अवज्ञा नीति अपनायी। तिलक का मानना था कि राजनीतिक अधिकारों के लिए लड़ना पड़ेगा। उदारवादी सोचते थे कि ये अधिकार आवेदन–निवेदन से प्राप्त हो सकते हैं किन्तु उग्रवादियों की सोच थी कि दबाव की राजनीति से ही राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। एक प्रमुख उग्रवादी नेता विपिन चन्द्र पाल का विचार था कि यदि सरकार स्वतः स्वराज्य दान करें तो मैं उसे धन्यवाद करने के बाद स्वीकार नहीं करूँगा, जब तक कि मैं उसे स्वंय प्राप्त न कर लूँ। उग्रवादियों का संगठन–शक्ति और आत्मनिर्भरता पर अधिक बल था। वे जन चेतना को जगाकर राजनीतिक आन्दोलन के माध्यम से ब्रिटिश सत्ता पर दबाव डालकर राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते थे। मातृभूमि के प्रति कष्ट सहिष्णु होना, त्याग तथा आत्मनिर्भरता उग्रवादियों की प्रमुख कार्य पद्वति थी। लाला लाजपत राय का कहना था कि एक अंग्रेज सबसे अधिक घृणा भिखारी से करता है। मेरी सोच है कि भिखारी भी इसी का पत्र भी होता है, आइये, हम सब दिखा दें कि हम भिखारी नहीं हैं। विपिन चन्द्र भी यही चाहते थे कि हम इतने सशक्त एवं प्रभावी हों कि हमारे विरूद्व जो भी हो, वह झुकने के लिए विवश हो जायें। तिलक ने स्पष्ट कहा था कि विदेशी शासन एक अभिशाप है, नौकरशाही की नींव हिलाने के लिए आत्म निर्भरता तथा कार्य की स्वतंत्रता बहुत आवश्यक है।

सक्रिय विरोध और सत्याग्रह

लाला लाजपत राय ने सक्रिय विरोध के दो प्रमुख लक्षण बताये थे–

1. भारतीयों के दिलो–दिमाग से ब्रिटिश शासन की शक्तिसम्पन्नता तथा परोपकार की भावना को खत्म कर दिया जाये।
2. देशवासियों के मन में स्वतंत्रता के लिए प्रेम तथा कष्ट सहन करने की भावना जाग्रत की जाये। उग्रवादियों ने राष्ट्र के समक्ष सहयोग के स्थान पर सक्रिय प्रतिरोध का कार्यक्रम रखा, उनके इस कार्यक्रम में बहिष्कार, स्वदेशी तथा शिक्षा शामिल थी। स्वदेशी से उनका आशय स्वदेशी वस्तुओं, स्वदेशी सरकार तथा स्वदेशी व्यवस्था की स्थापना से था। आर्थिक बहिष्कार को लेकर आन्दोलनकारियों में मतभेद था।

, कुछ मितवादियों के अनुसार अपने प्रान्त बंग–भंग के विरूद्व बंगवासियों की घृणा एवं क्रोध का यह परिचायक मात्र था । कुछ दूसरों का मानना था कि विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार देश के औद्योगिक विकास को एक नई गति देगा। कुछ राष्ट्रधर्मियों ने स्वदेशी माल के उत्पादन का तो समर्थन किया किन्तु बहुत से आदोंलनकारियों का यह मानना था कि बहिष्कार एक प्रभावी राजनीतिक अस्त्र है, जो विदेशी शासको से मुक्ति तथा आन्दोलन को अग्रसर करने में मददगार होगा।

एक प्रमुख उग्रवादी नेता विपिन चन्द्र पाल कहना था कि स्वदेशीवाद अथवा बहिष्कार मात्र एक आर्थिक आन्दोलन ही नहीं है, स्वदेशी वाद जब अपने को राजनीति से सशिलष्ट कर लेता है तो वह बहिष्कार हो जाता है और वह बहिष्कार सक्रिय प्रतिरोध के रूप में एक आन्दोलन हो जाता है। अरविंद का कहना था कि बहिष्कार का अन्तिम उद्‌देश्य भारत में विदेशी प्रशासन को पंगु बना देना था। उनके विचार में आर्थिक माल का बहिष्कार उस व्यापक बहिष्कार का एक अंग था, जिसके अनुसार उस हर वस्तु का बहिष्कार करना था जो कि ब्रिटेन द्वारा निर्मित हो।

राष्ट्रीय शिक्षा

उग्रवादियों के साधनों में एक प्रमुख साधन राष्ट्रीय शिक्षा भी थी। उग्रवादियों ने इसे कई रूपों में विवेचित किया। पाल का कहना था कि राष्ट्रीय शिक्षा वह शिक्षा है जो राष्ट्रीय रूप रेखाओं के आधार पर संचालित की जाये, जो राष्ट्र के प्रतिनिधियों द्वारा नियंत्रित हों, जो इस प्रकार नियंत्रित तथा संचालित हों कि जिसके द्वारा राष्ट्रीय भाग्य की प्राप्ति का लक्ष्य पूर्ण हो सके। अरविंद घोष का मत था कि राष्ट्रीय शिक्षा वह है जो हमें अतीत का महानता का पाठ पढ़ाये, वर्तमान कां पूरी तरह से सदुपयोग की शिक्षा देता ताकि एक महान राष्ट्र का निर्माण किया जा सकें।

अरविन्द घोष वस्तुतः पूरब और पश्चिम के आदर्श के समन्वय के आकांक्षी थें। राष्ट्रीय शिक्षा की अवधारणा को प्रचुर समर्थन प्राप्त हुआ। बहिष्कार स्वदेशी आन्दोलन और राष्ट्रीय शिक्षा ब्रिटिश शासन के प्रति निर्भीक विरोध के प्रमुख स्तम्भ थे। अरविंद घोष ने राष्ट्रीयता को धर्म की संज्ञा प्रदान की थी। उग्रवादी नेताओं ने गौरवशाली अतीत की स्मृतियों को पुर्नजीवित किया था। तिलक ने महाराष्ट्र में शिवाजी तथा गणपति महोत्सव के माध्यम से देशवासियों को जगाने, उनमें आत्मबल, उद्भूत करने तथा संगठन को प्रभावी बनाने का महत् प्रयास किया। विपिन चन्द्र पाल ने पुर्नजागरण तथा अरविंद घोष ने स्वतंत्रता की महत्ता पर विशेष बल दिया।

उग्रवादियों के चिन्तन का एक महत्वपूर्ण पहलू राष्ट्र की सामूहिक स्वतंत्रता का आग्रह था। वे सामूहिक स्वतंत्रता को वैयाक्तिक स्वतंत्रता से पृथक मानते थे। उग्रवाद 1916 से 1919 तक भारतीय राजनीति में केन्द्रीय स्थान बनाये रहा, उसके बाद गॉधी जी के भारतीय राजनीति मे आने से एक समन्वयकारी युग का उद्भव हुआ। उग्रवाद तथा आतंकवाद समाप्त नही हुआ वरन् समय–समय पर आवश्यकता

पड़ने से राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम को शक्ति प्रदान करते रहे। उग्रवाद का रूप समय तथा परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहा, किन्तु लाल बाल पाल तथा अरविंद घोश ने कभी भी हिंसा तथा क्रांति को महत्व नही दिया।

उदारवार तथा उग्रवाद दोनो में विरोध होते हुए भी उद्देश्य की दृष्टि से दोनो एक थे। दोनों ही देशप्रेम एवं राष्ट्रीयता से ओत–प्रोत थे। एक–दूसरे के लक्ष्य परस्पर पूरक थें, एक का क्षेत्र वाणी था तो दूसरे का क्षेत्र कर्म था। कांग्रेस के सम्पूर्ण इतिहास में बने दलों के नाम तथा तरीकों के आधार दो विचारधाराओं के दर्शन होते हैं। एक विचारधारा को मानने वाले ने भारत के लिए स्वशासन तथा स्वभाग्य निर्धारण के ध्येय को अपनाया, जिसका दर्शन ब्रिटिश उदारवादियों जैसा रहा है, जिसे दक्षिणपंथी विचारधारा कहा जा सकता है, दूसरी विचारधारा का लक्ष्य स्वराज्य प्राप्ति का रहा है, इसका झुकाव सीधी कार्यवाही की ओर रहा है।

उग्रवादी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को व्यापक बनाने में कामयाब रहे। उन्होनें राष्ट्रीय आन्दोलन से मध्यम वर्ग को जोड़ा। जनसाधारण में राष्ट्रीय चेतना को जगाया। इस संदर्भ में लाला लाजपत राय के विचार को रेखांकित करना उपयुक्त होगा– उन्होनें कहा था कि हम सरकारी भवनों से अपने मुखों को हटाकर जनता की झोपड़ियों की ओर फेरना चाहते हैं। सरकार से अपील के सम्बन्ध में जनता के मुखो को खोलना चाहते हैं। कांग्रेस के अन्दर रहकर उग्रवादियों ने यह प्रयास किया कि संगठन का रूख ब्रिटिश सरकार के प्रति बदले। उनका मत था कि वह उग्र विरोध करें तथा आत्म निर्भरता की नीति अपनायें। उनके प्रयासों के फलस्वरूप ही कांग्रेस ने बहिष्कार तथा स्वदेशी को स्वीकार किया। ब्रिटिश शासन ने उग्रवादियों को देश निकाला का दण्ड दिया तथा उनके प्रति कठोर दमन नीति अपनायी किन्तु उस

राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचला नहीं जा सका । दमनकारी नीति का नतीजा यह निकला कि राष्ट्रीय आन्दोलन ने क्रांति का रूप धारण कर लिया। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि लगभग डेढ़ दशक के उग्रवादी आन्दोलन ने भारत के प्राप्य (आजादी) को एक नई दिशा प्रदान की।

निष्कर्ष

उग्रवादी आन्दोलन मितवादी आन्दोलन से भिन्न एक अलग विचारधारा थी । इस विचारधारा के अग्रसारण में लाल–बाल–पाल– तथा अरविंद घोष का प्रमुख योगदान था। यह विचारधारा को मानने वालों का उदारवादी कार्य पद्वति में विश्वास नहीं था। उग्रवादी आवेदन–निवेदन को प्रभावी नहीं मानते थे। वे इसे राजनीतिक भिक्षावृति की संज्ञा प्रदान करते थे। उग्रवादी नेताओं ने स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा को अपने मिशन का आधार बनाया। तिलक उग्रवादी आन्दोलन के मूल अगुवाकार थे। उन्होनें स्वराज्य मेरा जन्मसिद्व अधिकार है, मैं इसे लेकर ही रहूँगा जैसा मंत्रघोष देशवासियों को प्रदान किया। उनके इस उद्घोष से देश की युवापीढ़ी को नवोन्मेष प्राप्त हुआ, महाराष्ट्र में शिवाजी तथा गणपति उत्सव संचालित कर तिलक ने युवाओं को राष्ट्रीय धारा से जोड़ने का प्रयास किया। उन्होनें निष्क्रिय प्रतिरोध की पद्वति अपनायी। लाला लाजपत राय विपिन चन्द्र पाल तथा अरविंद घोष ने तिलक का कन्धे से कन्धा मिलाकर साथ दिया। 1906 से 1919 तक के काल मे उग्रवादी आन्दोलन से राष्ट्रीय आन्दोलन के एक नया आयाम मिला।

षष्टम् - अध्याय

स्वाधीनता आन्दोलन और प्रमुख उग्रवादी नेता

1885 से 1905 तक दो दशकों की भारतीय राजनीति का दारोमदार उदारवादी नेताओं पर अवलम्बित रहा, दो दशक तक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन आवेदन–निवेदन की नीति में निमग्न रहा, प्रार्थनापत्र स्मृति पत्र तथा प्रतिनिधि मंडल–प्रेषण उदारवादी नेताओं के वैधानिक आन्दोलन के आलम्ब थे किन्तु सत्तावनी समर के एक वर्ष पूर्व ही मराठी धरती के रत्नागिरि शहर में एक ऐसे नवरत्न का जन्म हुआ, जिसने कालान्तर में अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बल पर राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नया आयाम प्रदान किया। उस महान विभूति का नाम था – बाल गंगाधर तिलक । 1906 से 1919 तक की भारतीय राजनीति उग्रवादी राजनीति के नाम से अभिप्रेत रही। इस काल के गरमपंथी नेताओं में लाल–बाल–पाल तथा अरविंद घोष के नाम उल्लेखनीय रहे, जिनके जीवन चरित्र का यहॉ पर उल्लेख करना प्रासंगिक होगा।

बाल गंगाधर तिलक

19 वीं सदी के कई दशक देश के लिए शुभ रहे वे देश को दासता से त्राण दिलाने के लिए कई देहदानियों को मॉ भारती के श्री चरणों में प्रस्तुत किया, जिनमें से लाल–बाल–पाल तथा अरविंद घोष प्रमुख रहे।

तिलक देश के उस भूभाग के भारथी थे, जिस क्षेत्र से अधिक संख्या में वीर पुत्रों ने क्षात्र धर्म को निभाया । यह रत्नागिरि स्थान देश के सबसे पिछड़े एवं निर्धन भागों में से एक है, किन्तु तीन सदियों में इसने कई राष्ट्ररत्नों को जन्म देकर अपने नाम को सार्थक कर दिखाया है, उन सब रत्नों में बेशकीमती रत्न तिलक

रहे। तिलक का जिन परिस्थितियों में जन्म हुआ था, उससे कोई भी यह अनुमान नहीं लगा सकता था कि तिलक का भावी जीवन साफल्य के उच्चतम शिखर तक पहुँचेगा, उनका जिस साधारण मकान पर जन्म हुआ, वह आज राष्ट्रीय स्मारक के रूप में है।[1]

शैक्षिक तथा सार्वजनिक जीवन

बाल गंगाधर तिलक के पिता का नाम गंगाधर राव था, उनके पिता एक प्राथमिक विद्यालय में अध्यापक थे, बाद में प्राईमरी विद्यालयों के वह निरीक्षक हो गये। गंगाधर राव को संस्कृत तथा गणित मे अच्छा ज्ञान था, इसी से तिलक को गणित तथा संस्कृत के प्रति रूचि जाग्रत हुई। तिलक की मॉ का नाम काशीबाई था। तिलक के जन्म का नाम केशवराव तथा बचपन का नाम बलवन्त राव था। उन्हें लाड़–प्यार में बाल कहकर पुकारते थे, तिलक का जन्म एक सनातनी ब्राह्मम्ण परिवार में हुआ था, उनका बचपन परम्पराओं तथा कर्मकाण्डो के बीच बीता। उनके पिता का 1866 में पुणे तबादला हो गया।[2]

पिता के पुणे स्थानान्तरण होने के कारण तिलक को वहॉ के कालेज में योग्य अध्यापकों का सानिध्य मिला। उन्होनें 16 वर्ष की उम्र में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की, तिलक बचपन से ही स्वाभिमानी प्रवृति के थे। उनके प्रारम्भिक शैक्षिक जीवन की कई घटनाओं से इस तथ्य की पुष्टि हुई कि उन्होनें अपने स्वाभिमान के मामले में कोई समझौता नहीं किया। बाल गंगाधर तिलक जब 10 वर्ष के थे, तभी

---

[1] एन0जी0 जोग, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, 1997, पृ0सं0 – 04

[2] विष्णुचन्द्र शर्मा, स्वराज्य के मंचदाता, तिलक नई दिल्ली प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार 2000, पृ0सं0 –02

उनके सिर से मातृ छाया उठ गयी। जो उनके जीवन पर बहुत बड़ा आघात था। वे अपने जीवन की एक त्रासदी झेल नही पाये कि उन्हें अपने जीवन के 16 वे बसन्त में प्रकृति की एक और मार झेलनी पड़ी। उनके पिता गंगाधर राव का निधन हो गया। उनके जीवन पर यह दूसरा व्रजपात था।[1]

गंगाधर राव ने अपने मृत्यु से कुछ समय पूर्व तिलक का विवाह बाल्यकाल बाल की पुत्री ताजीबाइ से कर दिया था, जिन्हें सत्यभामा के नाम से भी जाना जाता था। बाल गंगाधर तिलक अपने ऊपर से मॉ-बाप की छाया उठने के बावजूद हिम्मत नही हारे। घर में कोई बड़ा नही था, जो उनकी तथा उनकी पत्नी की देखभाल कर सकता, उन्हें अपने किशोर काल में ही परिवार का सारा बोझ झेलना पड़ा किन्तु वे बहुत साहसी थे, उन्होनें अपनी पढ़ाई बंद नही की। वे और अधिक लगन एवं उत्साह से अध्ययन करने लगे। वे धैर्य के साथ आगे बढ़ने लगे। तिलक ने मैट्रिक परीक्षा पास करने के बाद डेक्कन कालेज में प्रवेश लिया।[2]

तिलक का डेक्कन कालेज का शैक्षिक जीवन सुख एवं शांतिपरक रहा, उन्होनें अपने पॉच वर्ष के इस शिक्षा-काल को सबसे अधिक प्राफुल्ल देने वाला कहा, इस काल में उन्हें वर्ड्सवर्थ, शूट, छतरे जैसे विश्रुत प्रोफेसरों का सानिध्य मिला, तिलक उनके आख्यानों पर अवलम्बित न रहकर स्वतंत्र एवं अलग अध्ययन पर विश्वास करते थे। तिलक को यहॉ पर एम0बी0 चौबल, चन्द्रावरकर, रर्वापडे,

---

[1] एन0जी0 जोग, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, 1997, पृ0सं0 – 04

[2] विष्णुचन्द्र शर्मा, स्वराज्य के मंचदाता, तिलक नई दिल्ली प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार 2000, पृ0सं0 –02

मुधोलकर और डी0ए0 खरे जैसे नामचीन, सहपाठी मिले, जिन्होनें आगे चलकर यशकीर्ति का परचम फहराया।[1]

तिलक एक आदर्श विद्यार्थी नहीं कहलाते थे। वे परम्परागत एवं एक ढर्रे की अध्ययन प्रणाली से परे होकर स्वतंत्र एवं रूचिकर विषयों का चयन कर अध्ययन करते थे। उन्होनें कालेज–जीवन के प्रथम वर्ष को अपने स्वास्थ्य सुधार में लगा दिया। उनका शैक्षिक जीवन मनोविनोद, तर्क एवं चातुर्य से आपूरित रहा, उनके बहस के तरीके को देखकर उनके सहपाठी उन्हे श्री मुँहफट (मिस्टर ब्लण्ट) कहकर पुकारते थे। तिलक तथा आगरकर में राष्ट्र के भविष्य पर कई रातों में विचार–विमर्श होता रहा। तिलक ने 1877 में बी0ए0की परीक्षा उत्तीर्ण की। उन्हें गणित में प्रथम श्रेणी के अंक हासिल हुए। उसके बाद तिलक ने 1879 में कानून में स्नातक किया किन्तु वे एम0ए0 की परीक्षा में दो बार के प्रयास के बावजूद भी सफल नही हो सके किन्तु कालेज छोड़ने के पूर्व तिलक ने अपने भावी जीवन की पूर्व पीठिका निर्धारित कर ली।[2]

तिलक ने 1879 में एल0एल0बी0 की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की, उनके अंदर शिक्षा काल मे ही राष्ट्र प्रेम की भावना उद्भूत हो गयी थी, उन्होनें तथा आगरकर ने काफी सोचने–विचारने के बाद यह निर्णय लिया था कि यदि निष्काम तथा आत्मत्याग की भावना से शैक्षिक उन्नयन के लिए देश में प्रयत्न किया जाये तो उसकी सफलता में कोई संदेह नहीं रह जाता। उस काल के प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण एक स्नातक द्वारा राष्ट्रसेवा के लिए आत्मत्याग के विचार को सुनकर किसे

---

[1] एन0जी0 जोग, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, 1997, पृ0सं0 – 04

[2] विष्णुचन्द्र शर्मा, स्वराज्य के मंचदाता, तिलक नई दिल्ली प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार 2000, पृ0सं0 –02

आश्चर्य नही होगा। उस काल के वृद्वजन भी तत्कालीन युवाओं से एक अच्छी नौकरी की उम्मीद रखते थे। रानाडे जैसे राष्ट्रधर्मी एवं सुधारक ने भी तिलक के इस निर्णय को पहला नहीं दूसरा स्थान दिया।

अब प्रश्न यह उठता है कि तिलक तथा उसके सहपाठियों को किन तत्वो या विभूतियों ने राष्ट्र प्रेम की ओर मुड़ने में मदद की। उस काल में देश 1857 के समर से भी मुक्त हो चुका था, हाँ केवल 1878 में वासुदेव बलवन्त फड़के ने मराठा धरती में विद्रोह का बिगुल अवश्य फूँका था, यह भी कहा जाता है कि तिलक पर मूलरूप से चिपलूणकर शास्त्री का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था किन्तु यह तथ्य भी एक मात्र प्रमाण के रूप में पर्याप्त नहीं है। तिलक तथा उनके सहपाठी शैक्षिक जीवन में ही राष्ट्रीय पीड़ा से द्रवीभूत हो चुके थे। उनके अन्दर शिक्षा काल में ही राष्ट्र प्रेम की भावना जाग चुकी थी।[1]

तिलक और उनके सहयोगी अन्ततः इस निर्णय पर पहुँचे थे कि शिक्षा ही एक मात्र ऐसा संसाधन है, जिसके विस्तार से राष्ट्र का कल्याण हो सकता है। तिलक, आगरकर तथा चपलूणकर शास्त्री ने मिलकर 1880 में न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना की, तिलक तथा उनके सहयोगियों की मेहनत रंग लायी, तीन माह के अन्दर स्कूल में विद्यार्थियों की संख्या पाँच सौ हो गयी। अनेक समस्याओं से आवेष्टित होने के बावजूद स्कूल सफलता के शिखर की ओर निरन्तर बढ़ रहा था। चार वर्षो के अन्दर इसकी छात्र संख्या बढ़कर एक हजार से अधिक हो गयीं[1]

---

[1] डा0 वी0पी0 वर्मा, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, आगरा लक्ष्मी नारायन अग्रवाल 1998, पृ0सं0 226, 227।

[1] विष्णुचन्द्र शर्मा, स्वराज्य के मंचदाता तिलक पृ0सं0 06

तिलक तथा उनके सहयोगियों ने स्कूल के लिए सरकारी अनुदान न लेने का निर्णय लिया था, इस कारण स्कूल के संस्थापकों के ऊपर आर्थिक बोझ बहुत बढ़ गया था, तिलक तथा चिपलूणकर को पहले वर्ष स्कूल से एक रूपया भी वेतन के रूप में नहीं मिला था, दुर्भाग्य से 17 मार्च 1882 को चिपलूणकर नहीं रहे तिलक हिम्मत नहीं हारे, यह स्कूल पूरी तरह साफल्य पा चुका था, जिसकी पुष्टि तत्कालीन शिक्षा आयोग के अध्यक्ष डब्लू–डब्लू हण्टर ने की थी। उन्होनें अपने निरीक्षण में कहा था कि यह स्कूल स्वावलम्बन तथा आत्म निर्भरता में अपना कोई सानी नहीं रखता, प्रतिभाशाली एवं उत्साही युवाओं के समर्पित अनुदाय से लवरेज यह स्कूल देश के ही नही वरन अन्य देश के किसी भी स्कूल से मुकाबला कर सकता है। संयोग से यह स्कूल संस्थापकों की ऊर्जा का पूरा लाभ नहीं ले सका, कुछ महीनों के बाद तिलक व उनके सहयोगी सार्वजनिक सेवा के लिए नये क्षेत्र की तलाश में जुट गये।

तिलक तथा उनके सहयोगियों को समझने में देर नहीं लगी कि समाचार पत्रों के माध्यम से देश को पुनजीर्वीत किया जा सकता है, उस समय की पत्रकारिता आँग्लवादी था, उस समय के आँग्ल भारतीय पत्र–पत्रिकाओं का बोलबाला था। वे सब आँग्ल साम्राज्यवाद की चारणगिरि करते थे। इसके अतिरिक्त देशीपत्रों को वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट का कोपभाजन बनना पड़ रहा था। उन्हें अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष करना पड़ रहा था। तिलक तथा उनके सहयोगी मित्रों ने मराठा तथा केसरी नामक दो पत्र निकालने का निर्णय लिया। इन्होनें 1881 में दोनो पत्रों को निकालने का श्रीगणेश किया । 'मराठा' पढ़े–लिखे प्रबुद्व वर्ग को ध्यान में रखकर निकाला गया था तथा केसरी आम जनता की दृष्टि से प्रकाशित हुआ था।

न्यु इंग्लिश स्कूल की तरह ये दोनो पत्र साफल्य के शिखर को नापने लगे, दो वर्षो के भीतर केसरी भारतीय भाषा का सर्वाधिक प्रसारित तथा पाठित पत्र बन गया। मराठा पश्चिमी भारत का एक प्रमुख मुख पत्र के रूप मे विख्यात हो गया। ये दोनों बहुत ही प्रभावी सिद्व हुए। ये जनता के बीच अपनी पकड़ मजबूत कर चुके थे। इनकी शैली सटीक, सारगर्भित तथा सातत्य से आपूरित रहती थी। उस समय कोल्हापुर रियासत में नाबालिग महाराज की अव्यवस्था के कारण पूरा महाराष्ट्र आन्दोलित था। मराठा तथा केसरी ने उक्त मामले को पूरे जोर–शोर से उठाया, जिससे कोल्हापुर के दीवान बर्वे फंस गये। नैतिकता के आधार पर ये पत्र सच थे किन्तु कानूनी आधार पर ये पत्र जीत नहीं सके, बर्वे ने पत्र–पत्रिकाओं तथा कई व्यक्तियों पर मानहानि के मुकदमें चलायें।

तिलक तथा आगरकर को 17 जुलाई 1882 को चार माह का कारावास का दण्ड लिया, ये साहसी युवा पहली बार सरकारी मेहमानखाने से परिचित हुये, तिलक तो उसके बाद कई बार सरकारी मेहमान बने। तिलक तथा आगरकर ने रियासत प्रकरण को लेकर निःस्वार्थ भाव से आन्दोलन चलाया था, जिससे वे दोनो युवा बहुत ही लोकप्रिय हो गये और सफलता के शिखर पर शीघ्रता से चढ़ने लगे।

बाल गंगाधर तिलक पूरी तरह से सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश कर गये थे। 1882 मे जेल से रिहा होने के बाद उनके दिमाग में यह विचार बार–बार कौंध रहा था कि शिक्षा के समग्र उन्नयन के लिए कोई न कोई सुदृढ़ संगठन हो। वे स्कूल के विस्तार स्वरूप एक कला महाविद्यालय खोलना चाहते थे। इस दिशा में प्रगति के दृष्टिकोण से 24 अक्टूबर 1884 को न्यासी परिषद का चुनाव करने के लिए प्रमुख व्यक्तियो की एक सभा बुलायी गयी, जिसमे रानाडे, सर विलियम वेडरबर्न,

डॉ0 भाण्डारकर, प्रोफेसर वर्ड्सवर्थ एवं तैलंग जैसे विश्रुत विभुतियाँ सहभागी हुयी थी। इन उत्साही युवाओं को केवल जनता का ही नही अपितु सरकार का भी उक्त संदर्भ में समर्थन मिल रहा था। इस प्रकार डेक्कन एजूकेशन सोसायटी या दक्षिण शिक्षा समाज की स्थापना 1884 में हुई, इस संस्था के संरक्षकों में से वायसराय लार्ड रिपन, बम्बई के गवर्नर जेम्स फर्ग्युसन भी थे, फर्ग्युसन ने सोसायटी को दो सौ पचास रूपये का दान दिया था, जिससे प्रभावित होकर कुछ लोगो ने कालेज का नाम फर्ग्युसन कालेज रख दिया था।[1]

दक्षिण शिक्षा समाज एक विशाल वटवृक्ष की तरह विकसित हुई, इसने सारे महाराष्ट्र में अपनी शाखायें खोली, यह अपने ढंग की एक अनोखी संस्था है, जो कई स्कूल तथा कालेज चलाती है। यह कई संस्थाओं के लिए प्रेरणा स्त्रोत है। उससे आर्यसमाज ने भी प्रेरणा ग्रहण की– फर्ग्युसन कालेज से आप्टे, प्रोफेसर मण्डली, तिलक, आगरकर, गोले तथा गोखले जैसे सुयोग्य व्यक्ति जुड़े थे। दक्षिण शिक्षा समाज ने उत्तरोत्तर प्रगति की। सरकार उससे इतनी प्रभावित हुई कि उसे हस्तगत करने का प्रस्ताव तक कर दिया किन्तु एक शर्त के कारण डेक्कन एजूकेशन सोसायटी के आजीवन सदस्यों को वह प्रस्ताव अंगीकार नही हुआ। सरकार ने कहा था कि दक्षिण शिक्षा समाज के खर्चे पर कालेज में दो युरोपीय प्रोफेसर रखे जायेंगे, जिसे सदस्यों ने नही माना, इस पर कालेज को मिलने वाला तीन हजार का सरकारी अनुदान रूक गया[1]

---

[1] विष्णुचन्द्र शर्मा स्वराज्य के मंचदाता, तिलक नई दिल्ली प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार 2000, पृ0सं0 –09

[1] एन0 जी0 जोग, लोक मान्य बाल गंगाधर तिलक नई दिल्ली, सूचना एवं प्रकाशन विभाग, भारत सरकार 1997 पृ0सं0 12,141

इसी बीच आजीवन सदस्यों में उत्पन्न मतभेद खुलकर सामने आने लगे, तिलक तथा आगरकर में समाज सुधार को लेकर मतभेद था, तिलक को इस बिन्दु पर भी कष्ट था कि आजीवन सदस्य अपनी आय बढ़ा रहे हैं, यह कार्य उनकी दृष्टि में कपटपूर्ण था, इससे आजीवन सदस्यों की प्रतिज्ञा भंग होती थी, साथ ही संस्था का भी अहित हो रहा था। तिलक तथा अन्य सहकर्मियों में उक्त बिन्दुओं को लेकर मतभेद बढ़ते गये, सम्बन्धो की दरार बढ़ती गयी।

1886–1899 के बीच आगरकर तथा तिलक के बीच सम्बन्ध बहुत तल्ख हो गये, तिलक ने सहकर्मियों के अवैतनिक कार्यो पर आपत्ति करके उनसे सम्बन्धो की खाई को और चौड़ा कर दिया। इसी बीच एक और मुद्दे ने स्थिति को और भी अधिक बिगाड़ दिया, गोखले ने सार्वजनिक सभा का मंत्री–पद ग्रहण करने की इच्छा प्रगट की, इस पद पर रहते हुए उन्हें दो–तीन घण्टे अतिरिक्त समय देना पड़ता। तिलक ने इसका घोर विरोध किया। तिलक की गोखने पर यह अकारण चोट थी, इधर गोखले ने मंत्री–पद स्वीकार कर लिया, इस पर तिलक इस प्रश्न को दोबारा उठाना चाहा, जिसकी सोसायटी की परिषद ने निंदा की, इस पर तिलक ने 14 अक्टूबर 1890 को सोसायटी से त्यागपत्र दे दिया, जिसे पॉच माह बाद स्वीकार कर लिया गया, परिषद के अध्यक्ष भाण्डारकर ने कहा कि तिलक ने प्रबंध समिति के सदस्यों पर बेईमानी के जो आरोप मढ़े हैं, उन्हें हम नहीं भूल सकते,, 02 फरवरी 1891 को परिषद ने तिलक के सभी आरोपों को निराधार की संज्ञा प्रदान की। इस प्रकार एक विवाद का पटाक्षेप हो गया। तिलक ने पन्द्रह हजार शब्दो से आपूरित अपना त्यागपत्र दिया था, जिनमें से आखिरी शब्दों या परिच्छेद में उनकी मनोवेदना झलकती थी।

कुल आलोचकों ने यह कहा कि तिलक में दूसरों के साथ मिलजुलकर काम करने की क्षमता नहीं थी, जो सच नहीं था। तिलक के संस्था से अलग होने पर संस्था का ही अधिक कल्याण हुआ था, सोसायटी का यही काम पुनः विधिवत् चलने लगा था। तिलक और गॉधी जी के साथ एक जैसी घटी थी, गॉधी जी को गोखले की मृत्यु के बाद भारत् सेवक समाज का सदस्य बननें में बहुत बाधा महंसूस हुई।[1]

जिस प्रकार दक्षिण शिक्षा समाज के आजीवन सदस्य तिलक के साथ काम नहीं करना चाहते थे, उसी तरह गॉधी जी की महानता को भारत सेवक समाज क सदस्य पचा नही पा रहे थे, उन्हें सदस्य बनाने में हिचक रहे थे, आगे चलकर स्वयं गांधी जी ने अपना आवेदन पत्र वापस कर लिया और सदस्यों के मार्ग को निरापद कर दिया। तिलक जी अब मराठा तथा केसरी पर अधिक ध्यान दे रहे थे किन्तु उनके सामने सबसे बड़ी समस्या जीविकोपार्जन की थी। ये दोनों पत्र कई वर्षो से घाटे में चल रहे थे किन्तु ये जनता के बीच अपना स्थान बना चुके थे। 1886 के आते–आते आगरकर ने मराठा तथा केसरी से अपने हाथ खींच लिये, इस पर तिलक ने दोनों पत्रों का भार केलकर को सौंप दिया, साथ ही उन्होनें यह भी कहा कि आगरकर ने तो मराठा और केसरी पत्रों को बंद करने की सलाह भी दी थी।[1]

तिलक ने 1887 में अपने को केसरी का प्रकाशक घोषित कर दिया, केलकर मराठा के संपादक थे, जिनके विचार आगरकर से मिलते थे। इसके साथ ही मराठा अपने सहयोगी केसरी के विरूद्व होता जा रहा था। 1890 तथा 1891 तिलक के जीवन के बहुत महत्वपूर्ण वर्ष थे, उन्होनें इन्हीं वर्षो में अपने शेष भावी जीवन की रूपरेखा निर्धारित की। तिलक को 10 वर्षो में एक शिक्षा शास्त्री के रूप में अपने

---

[1] एन0जी0 जोग, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, 1997, पृ0सं0 – 18

[1] एन0जी0 जोग, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, 1997, पृ0सं0 – 29,30 ।

मित्रों से मनमुटाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला। इसी बीच तिलक की माली हालत और बिगड़ गयी, फिर भी उनके अन्दर देश सेवा का शानदार जज्बा था, वे भारी कर्जदार थे, फिर भी राष्ट्रसेवा के क्षेत्र में कदम अग्रगामी थे।

स्वाधीनता आन्दोलन और बाल गंगाधर तिलक

तिलक आनुमानिक फलक पर खरे उतर चुके थे, उन्होनें 1889 में कांग्रेस में प्रवेश किया। तिलक समाज सुधार के विरोधी नहीं थे किन्तु अपनी हठधर्मिता के कारण रूढ़िवादी मत के कटट्र समर्थक मान लिए जाते थे। उनका राजनैतिक सुधारों पर सर्वाधिक बल रहता था। उनके राजनैतिक चिन्तन का यहॉ उल्लेख करना समाचीन होगा। तिलक को सच्चे अर्थो में भारतीय उग्रराष्ट्रवाद का जनक कहा जा सकता है, जिन्होनें भारतीय राजनीति को एक नया आयाम प्रदान किया। इससे कांग्रेस को एक जनान्दोलन में परिणित होने में मदद मिली। उन्होनें नेता तथा जनता के साथ मिलकर एक रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत किया, साथ ही स्वतंत्र भारत की भूमिका की ओर संकेत करते हुए कहा कि एशिया तथा संसार की शांति के लिए भारत को स्वशासन प्रदान करने से पूर्व उसे स्वतंत्रता का गढ़ बना दिया जाये। तिलक उग्र राष्ट्रवादी तो थे किन्तु वे हिंसा तथा रक्तपात के कभी पक्षधर नही रहे।

तिलक के राजनीतिक दर्शन में यर्थाथवाद का पुट अवश्य मिलता है किन्तु उनके विचार मैकियावली, हॉब्स, प्लेटो, अरस्तू या सिसरों की तरह नही है। उनके राजनीतिक दर्शन में भारत की राजनीतिक दासता से मुक्ति मुख्य थी, इस दृष्टि से उन्होनें एक व्यावहारिक राजनीतिक चिन्तन धारा रही, तिलक की आध्यात्मिक अवधारणाओं ने उनके राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित किया तिलक एक वेदान्त वादी थे।

तिलक ने वेदान्त के अद्वैतवादी सिद्वान्त के आधार पर प्राकृतिक अधिकारों की राजनीतिक धारणा का प्रतिपादन किया। वेदान्तदर्शन ने उन्हें स्वतंत्रता की सर्वोच्चता का पाठ पढ़ाया। उनकी स्वतंत्रता को व्यक्ति का दैवी अधिकार माना। वे विदेशी साम्राज्यवाद के किसी भी स्वरूप को स्वतंत्रता के लिए घातक मानते थे। तिलक मैजिनी तथा बर्क के विचारों से प्रभावित थे। सारांशतः यह कहा जा सकता है कि तिलक का राष्ट्रवादी दर्शन आत्मा की सर्वोच्चता के वेदान्तिक आदर्श तथा मैजिनी, वर्क, मिल तथा विल्सन के विचारों का समन्वय था । इस समन्वय को तिलक ने सवराज्य शब्द द्वारा व्यक्त किया। तिलक के स्वराज्य को केवल एक अधिकार ही नही वरन एक धर्म भी माना। राजनीतिक रूप में उन्होनं स्वराज्य का अर्थ स्वशासन या होमरूल बताया।

तिलक का राष्ट्रवाद

तिलक की राष्ट्रीयता पुनरूत्थान तथा पुर्ननिर्माणवाद की थी। उन्होनें वेदों तथा गीता से आध्यात्मिक शक्ति तथा राष्ट्रीय उत्साह प्राप्त करने का संदेश दिया। उनका मानना था कि यदि भारत में सच्ची राष्ट्रीयता का प्रसार करना है तो प्राचीन संस्कृति का पुर्नजागरण आवश्यक है। तिलक ने राष्ट्रवाद का एक आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक धारणा बताया उन्होनें कहा कि जो राष्ट्रवाद राष्ट्रीय एकता पर आधारित होता है, वही सच्चा और स्वस्थ राष्ट्रवाद हे। तिलक ने राष्ट्रवाद के विकास में सार्वजनिक उत्सवों को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया था। उन्होनें शिवाजी तथा गणपति उत्सव के द्वारा राष्ट्रवाद को नई दिशा दी थी।

तिलक हिन्दु गौरव को अस्त होते हुए नही देख सकते थे किन्तु इसका अर्थ कदापि यह नही था कि तिलक हिन्दु राष्ट्रवादी थे या मुसलमानों के विरूद्व थे जहाँ

एक ओर जकारिया का आरोप है कि तिलक हिन्दुओं की मुस्लिम विरोधी बदले की भावना के प्रतिनिधि थे, वहीं रजनी पायत्त तथा वेलेन्टाईन शिरोल के अनुसार तिलक ने राष्ट्रीय चेतना के साथ–साथ हिन्दुत्व भावना का समिश्रण कर दिया था, इसलिए मुसलमानों ने राष्ट्रीय आन्दोलन से बचने के लिए अपने आप को अलग कर लिया था। शिरोल ने तिलक को मुस्लिम विरोधी सिद्व करने का प्रयत्न किया किन्तु ये सभी आरोप मिथ्या थे। इसके बदले में सातत्य यह है कि तिलक एक महान राष्ट्रधर्मी विचारक तथा देशभक्त थे, जिनके हृदय में मुसलमानों के प्रति कोई रागद्वेष नही था, उनका अपराध केवल इतना था कि वे एक यर्थाथवादी राजनीतिज्ञ थे। तिलक की राष्ट्रवादी भावना की प्रशंसा जिन्ना, अंसारी तथा हसन इमाम ने की थी। तिलक के विवेक का परिणाम था कि 1916 का लखनऊ समझौता सम्पन्न हो सका था।

तिलक ने राष्ट्रवाद में आर्थिक कारकों को भी महत्व दिया था। उन्होनें राष्ट्र में गरीबी का एक मुख्य कारण यह माना कि देश से विपुल धनराशि का निष्क्रमण हो रहा है। तिलक दादाभाई नौरोजी के आर्थिक निष्कासन के सिद्वान्त के समर्थक थे। भारत में जो स्वदेशी आन्दोलन चला वह आर्थिक दृष्टि से देश के प्रारम्भिक पूंजीवाद की वृद्वि और विस्तार का आन्दोलन था।

तिलक का राजनीतिक उग्रवाद और आक्रामक राष्ट्रवाद

तिलक का राष्ट्रवाद उग्र ओर उष्मित था। उन्हे उग्र राष्ट्रीयता का अग्रदूत कहा जाता है। वे गोरी सरकार की दमनकारी नीति को सहन नही कर सके। तिलक ने कर्जन के निरंकुश कार्यो की 'केसरी' में कठोर आलोचना प्रकाशित की। उन्होनें अपना मत रखते हुए कहा कि ब्रिटिश सरकार पर आवेदन–निवेदन का कोई

फर्क नहीं पड़ेगा इसलिए हमें अपनी मांगो को हक के रूप में रखना चाहिये। 1905 में बंग–भंग के अवसर पर तिलक को उग्र राष्ट्रवाद का बिगुल फूँकने का सुअवसर प्राप्त हुआ, जिसका उपयोग तिलक ने राष्ट्रवाद को दृढ़ बनाने में किया। बंगाल विभाजन के बाद लाल–बाल–पाल भारत में उग्र राष्ट्रीयता के त्रिमूर्ति तरस्वी बन गये।

ब्रिटिश सरकार ने दमनकारी नीति अपनायी पर उग्रवादी आन्दोलन तेजी पकड़ता गया, तिलक ने स्वराज्य का उदघोष किया, स्वराज्य प्राप्ति के तिलक ने इन बिन्दुओं पर जोर दिया – (1) स्वदेशी (2) बहिष्कार (3) राष्ट्रीयं शिक्षा (4) निष्क्रिय प्रतिरोध। तिलक ने यह कार्य नव राष्ट्रीय दल के माध्यम से किया, जिसके मुख्य आलम्ब तिलक थे। 1905–1909 तक इस दल ने राष्ट्रीय शिक्षा, दलित–उत्थान और राष्ट्रीय पत्रों की स्थाप्ना आदि के विभिन्न आन्दोलन चलाये, तिलक ने अपने अथक प्रयासों से कांग्रेस को बहुत हद तक जन–आन्दोलन में परिवर्तित कर दिया, स्वतंत्रता–संग्राम केवल शिक्षित वर्ग तक सीमित न रहा, हर किसी की जबान पर यह नारा गूंज उठा कि स्वराज्य हमारा जन्म सिद्व अधिकार है और हम उसे लेकर रहेगें।

तिलक का उग्रवाद नरम पंथियों से मेल नही रखता था। तिलक का विश्वास संगठन शक्ति और स्वावलम्बन में था। उन्होनें जनता का आवाह्न करते हुए कहा था कि जनता राजनीतिक आन्दोलन चलाकर सरकार पर अधिक से अधिक दबाव बनायें, साथ ही मातृभूमि के लिए कष्ट सहन करे, उनका प्रार्थना, प्रतिवेदन तथा प्रतिरोध पर विश्वास नहीं थां उन्होनें कहा था कि स्वदेशी हमारी अन्तिम पुकार है, इसी के सहारे हम आगे बढ़ेगें, सरकार से मुकाबला के दो उपाय हैं– स्वदेशी तथा

राष्ट्रीय शिक्षा। तिलक किसे एक साधन में बँधे न रहकर विभिन्न उग्र साधनों तथा दबावकारी नीति के प्रयोग का समर्थन किया, किन्तु हिंसा और क्रांति का पक्ष पोषण नहीं किया।[1]

स्वदेशी और बहिष्कार

स्वदेशी तथा बहिष्कार को स्वातन्त्र्य आन्दोलन के दो हथियारों के रूप में लोकप्रिय बनाने में तिलक का महत् प्रयास रहा। तिलक ने स्वदेशी के संदेश को देश के कोने–कोने तक पहुँचाने में अहम भूमिका निभायी। स्वदेशी का आरीा तो उदारवादियों ने एक आर्थिक आन्दोलन के रूप में किया था किन्तु तिलक के हाथों में यह राजनीतिक अस्त्र बन गया। पश्चिमी भारत में स्वदेशी और बहिष्कार का आदोंलन तिलक के साथ पहुँचा। उनकी अगुवायी में पूना में बड़े पैमाने पर विदेशी वस्त्रों की होली जलायी गयी।

तिलक ने केसरी में लिखा कि हमारा राष्ट्र एक वृक्ष की तरह है, जिसका मूल तना स्वराज्य है, स्वदेशी तथा बहिष्कार उसकी शाखायें हैं, वस्तुतः स्वदेशी ने ही स्वराज्य की आधारभूमि तैयार की जो स्वदेशी आन्दोलन पहले आर्थिक पहलू तक सीमित था। अब वह विस्तारित होकर आत्मनिर्भरत और स्वावलम्बन का प्रतीक बन गया। तिलक की प्रेरणा से यह जनजीवन का एक कार्यक्रम बन गया। तिलक ने भारतीयों के मन मस्तिष्क को स्वदेशी बना देना चाहा, उनमें स्वाधीनता की भावना भरने का अथक प्रयास किया। मुसलमानों ने भी तिलक को स्वदेशी आन्दोलन में अपना योगदान प्रदान किया।

---

[1] डा0 पुखराज जैन, राजनीति विज्ञान, आगरा साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, 2004 पृ0सं0 141

तिलक ने बहिष्कार में अस्ति और नास्ति अर्थात स्वीकारात्मक एवं नकारामक दोनों पहलुओं पर जोर डाला और कहा कि सबसे पहले इससे स्वदेशी वस्तुओं के उत्वादन को प्रोत्साहन मिलेगा, साथ ही गोरी सरकार भारतीयों की मांगे मानने को विवश होगी। तिलक ने लोगो को बहिष्कार का मार्ग और इसका राजनीतिक स्वरूप दिखाकर स्वराज्य का मार्ग प्रशस्त किया। यह बहिष्कार आन्दोलन गांधी जी के असहयोग आन्दोलन की पूर्व सूचना थी। तिलक ने यदि स्वराज्य के प्रति लोगो में इतना उत्साह उत्पन्न न किया होता तो संभवतः द्वेष गांधीवादी कार्यक्रम के लिए इतना तैयार न होता। तिलक ने 1906 में जिस असहयोग आन्दोलन का खाका खींचा था, उसे लगभग 14 वर्ष बाद महात्मा गांधी ने चलाया।

जनशक्ति तथा जनसंपर्क में विश्वास

तिलक ने अपने विचारों तथा कार्यकलापों में जनशक्ति को सदैव विशेष महत्व प्रदान किया। उनका स्पष्ट मत था कि जनता में बहुत शक्ति होती है, निरंकुश शासक तक जनमत से भय खाते हैं। 1891 में केसरी में अपने विचारों को व्यक्त करते हुए तिलक ने कहा था कि जनमत एक ऐसी चीज होती है, जिससे स्वेच्छाचारी तथा तानाशाह भय खाते हैं, लेकिन ऐसा जनमत यहॉ उत्पन्न करने के लिए हमने कुछ नही किया। तिलक का कहना था कि यदि जनता संगठित होती है और अपने अधिकारों के प्रति जागरूक रहती है तो शासन आततायी नहीं बन सकते बल्कि उन्हें जनमत को सन्तुष्ट करने की चिन्ता रहती है।

तिलक ने पत्रचारिता के माध्यम से जनता में चेतना फूंकी, उसे स्वराज्य के लिए सचेष्ट किया।

1919 का अधिनियम और लोकमान्य तिलक

1919 के अधिनियम अथवा माण्टफोर्ड सुधारों के सम्बन्ध में तिलक ने सूझ–बूझ और व्यावहारिक राजनीतिज्ञता का परिचय देते हुए कहा कि नौकरशाही द्वारा भारत को जो कुछ दिया जा रहा है उसे हमें स्वीकार कर लेना चाहिये, साथ ही अधिक के लिए अपना आन्दोलन अग्रसर रखना चाहिये ताकि स्वराज्य का लक्ष्य हासिल किया जा सके। इसके साथ ही तिलक ने गांधीजी की अशर्त सहयोग की नीति का समर्थन नहीं किया।

तिलक ने अमृतसर कांग्रेस द्वारा पारित प्रस्ताव की भावना के अनुरूप कार्य शुरू किया और माण्टफोर्ड सुधार योजना के अर्न्तगत स्थापित की जाने वाली विधान परिषदों के लिए चुनाव लड़ने हेतु कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की, 20 अप्रैल 1920 को इस दल का घोषणा पत्र जारी किया, जिसमें प्रमुख बिन्दु इस प्रकार थे–

1. कांग्रेस में आस्था
2. प्रजातंत्र का आरंभ
3. शिक्षा का प्रसार
4. मताधिकार का विस्तार
5. धार्मिक सहिष्णुता
6. राष्ट्रसंघ के निर्माण का समर्थन
7. शिक्षा आन्दोलन और संगठन का नारा
8. श्रमिकों को उचित वेतन
9. रेलों का राष्ट्रीयकरण
10. भाषायी आधार पर प्रान्तों का संगठन।

घोषणा पत्र पर स्वंय तिलक ने हस्ताक्षर किये। वस्तुतः इस घोषणा पत्र को तिलक की उत्तरवर्ती राजनीतिक विचारधार का वसीयतनामा कहा जा सकता है। इसमें शिक्षा तथा राजनीतिक मताधिकार के विस्तार को भारतीय समस्याओं के निराकरण के लिए दो महत्वपूर्ण अस्त्र बताये गये।

स्वशासन (होमरूल) आन्दोलन और तिलक

बम्बई कांग्रेस अधिवेशन के समय राष्ट्रवादियों का एक सम्मेलन पुणे में हुआ, जिसमें होमरूल लीग की स्थापना पर चर्चा हुई, तिलक ने केसरी में होमरूल लीग के समर्थन एवं उपयोगिता पर कई लेख लिखे, इसके पूर्व एनी बेसेण्ट ने मद्रास में लीग प्रस्ताव रखा था। राष्ट्रवादियों ने 28 अप्रैल 1916 को बेलगॉव में होमरूल लीग की स्थापना की औपचारिक घोषणा कर दी।[1]

अगले दिन बेलगांव में ही बम्बई प्रान्तीय सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हुआ, जिसमें मुख्यतः बम्बई कांग्रेस में राष्ट्रवादियों के सम्मुख रखी गयी शर्तो पर ही विचार किया गया, तिलक इनसे संतुष्ट नहीं थे, किन्तु गांधी जी ने तिलक का समर्थन किया, यह प्रस्ताव सर्व सम्मति से पास हो गया। जिससे कांग्रेस में राष्ट्रवादियों की वापसी का मार्ग खुल गया। प्रान्तीय सम्मेलन के बाद तिलक ने बम्बई, कर्नाटक तथा मध्य प्रान्त में लीग की शाखायें स्थापित तथा इसके सदस्य बनायें। उन्होनें लीग के उद्देश्यों को स्पष्ट किया। लीग को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से तिलक ने देश के विभिन्न भागो का भ्रमण किया, साथ ही उसके पक्ष में भाषण किये। तिलक ने होमरूल–स्वशासन का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा कि किसी अंग्रेज को अपने देश में जो स्थान प्राप्त है, वही स्थान मुझे अपने देश में प्राप्त होना चाहिये।

[1] एन0जी0 जोग, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, 1997, पृ0सं0 – 29,30 ।

तिलक ने हर स्थान पर श्रोताओं को यह समझाने का प्रयास किया कि होमरूल स्वशासन की मांग कोई राजद्रोह नहीं है। तिलक की लोकप्रियता से ब्रिटिश सरकार बौखला उठी थी। उनके भाषणों की छान–बीन करने लगी। उन पर राजद्रोह के मुकदमे की भूमिका बना रही था। 22 जुलाई 1916 को पुणे के जिलाधीश ने तिलक को एक नोटिस तामील की, जिसमें कहा गया कि आपसे एक वर्ष तक सद्व्यवहार की गारण्टी देने के लिए बीस हजार रूपये का बंधपत्र लिखाने का आदेश क्यों न दिया जाये। 23 जुलाई को तिलक का 60वां जन्म दिन था। सरकार ने जान बूझकर यह दिन चुना था।[1]

21 जुलाई 1916 को तिलक का जन्मोत्सव सोल्लास मनाया गया, उनके जन्म पर्व पर अपार भीड़ हुई, उन्हें जनता ने थैली भी भेंट की। उन्होनें इस पर जन–अभिनंदन स्वीकार करते हुए कहा कि मैं आपका अभिनंदन संकोच के साथ स्वीकार कर रहा हूँ और थैली को ट्रस्ट के रूप में सार्वजनिक कार्य के लिए स्वीकार करता हूँ। आप सभी को साहस एवं उत्साह के साथ एकजुट होकर कार्य करना होगा। उन्होनें आगे कहा कि उठो, जागो और कुछ करके दिखाओ। तिलक को नोटिस जारी की गयी थी, उस पर उसी जिलाधीश ने न्यायाधीश के पद आसीन होकर 07 अगस्त 1916 को सुनवाई की। न्यायाधीश ने तिलक को अपने श्रोताओं के मन में सरकार के प्रति अश्रद्वा की भावना उत्पन्न करने का अपराधी घोषित किया, उनसे धारा 108 के अन्तर्गत बन्ध पत्र भरने तथा जमानत देने को कहा गया। तिलक ने उच्च्च न्यायालय मे अपील की, जिसकी नवम्बर 1916 में

---

[1] एन0जी0 जोग, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, 1997, पृ0सं0 – 145 ।

सुनवायी हुई, तिलक बरी कर दिये गये। इससे होमरूल आन्दोलन को बहुत बढ़ावा मिला। एनी बेसेण्ट ने मद्रास में होमरूल लीग की स्थापना की थी।[1]

दिसम्बर 1916 में जब लखनऊ कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था, उस समय तक होमरूल आन्दोलन की जड़े काफी मजबूत हो चुकी थीं। तिलक की बम्बई से लखनऊ तक की यात्रा एक विजय यात्रा जैसी थी। उनका हर स्टेशन पर अभूतपूर्व स्वागत किया गया, तिलक महाराज की जय के गगनभेदी नारे लगे। तिलक के लखनऊ स्टेशन पर पहुॅचने पर लोगो ने अभूतपूर्व स्वागत किया।

तिलक जिस सवारी पर बैठे, समर्थक उसे स्वंय खींचकर कार्यक्रम स्थल तक ले गये। 08वर्षो के अंतराल के बाद तिलक कांग्रेस के मंच पर दिखायी पड़े थे, वे उस अधिवेशन मे एक ऐसी शख्सियत थे, जिस पर सभी की निगाहे केन्द्रित थीं। इस अधिवेशन की एक विशेषता यह थी कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच समझौता से हो गया था । इस अधिवेशन में दो प्रस्ताव अनुमन्य हुए। लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन देश के राजनैतिक जीवन को एक नया सम्बल, एक नया आयाम मिला। तिलक लखनऊ से कानपुर तथा कलकत्ता गये। उन्होनें 18 माह तक देश का सघन दौरा किया। तिलक ने लोगो को होमरूल आन्दोलन से परिचित कराया।

सरकार तिलक से तिलमिला गयी। उनके पंजाब प्रवेश पर रोक लगा दी गयी। इसी बीच सरकार ने माण्टेयु घोषणा जारी की, जिसे तिलक ने सही दिशा में अगला कदम अवश्य कहा किन्तु सन्तोषजनक नहीं माना।

लोकमान्य बाल गंगाधर सच्चे अर्थो में महान देशभक्त थे। वे स्वराज्य के मंत्रदाता थे, उनमें व्यावहारिक राजनीति तथा दर्शन का मणि–कांचन योग था।

---

[1] एन0जी0 जोग, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, 1997, पृ0सं0 – 146,147 ।

उनका व्यक्तित्व तथा चरित्र उच्च कोटि का था, जिन पर दिनकर के शब्द सही प्रतीत होते हैं– दिशादीप्त हो उठी, प्राप्त कर पुण्य प्रकाश तुमहारा। वे गीता के अर्थ में विभूति थे, भारत में राजनीतिक चेतना के उद्रगाता थे। देश के मुक्ति संग्राम में तिलक का अविस्मणीय योगदान रहा। वे निष्काम कर्म के उपदेशक थे। उन्हें आधुनिक भारत का कौटिल्य कहा गया है। वे सामाजिक–आर्थिक न्याय के प्रणेता थे।

लाला लाजपत राय

लाला लाजपत राय एक महान राष्ट्रवादी और आधुनिक भारत के अग्रणी नेताओं में से एक थे। लाला लाजपत राय ने स्वतंत्रता की दीपशिखा प्रज्जवलित की थी, उनका सम्पूर्ण जीवन त्याग, तपस्या एवं तरस्विता से आपूरित था। राष्ट्रीय मुक्ति के सम्बन्ध में उनकी धारणा बहु विषद एवं व्यापक थी, समाज–सुधारक तथा राष्ट्रीय शिक्षा के प्रति उनका लगाव अनुकरणीय था, देश की समस्याओं का उन्हें अच्छा ज्ञान था, हर क्षेत्र में उनकी गहरी पैठ थी। उन्होनें भारत के मिथ्या आलोचको को मुहॅतोड़ जवाब दिया था। वे लेखनी के अद्‌भुत धनी थे, तिलक तथा विपिन चन्द्र पाल के साथ भारत में उग्रराष्ट्रवाद के एक प्रमुख प्रवक्ता माने जाते थे।

जन्म और शिक्षा

लाला लाजपत राय का जन्म 28 जनवरी 1865 को ननिहाल में ढुडी गॉव की एक झोपड़ी मे हुआ था, लाला लाजपत राय के पिता का नाम राधा किशन था। लाला जी के पिता की अध्ययन में जीवनपर्यन्त रूचि रही, वे हर विषय की

किताबें पढ़ते थे। धर्म तथा इतिहास में उनकी विशेष रूचि थी। लालाजी के पिता अध्यापक थे। लाला लाजपत राय के दादा जैनी थे, पिता मुसलमान धर्म को मानते थे। लाला लाजपत राय दो धर्मो के दोराहे पर खड़े हुए थे। पति के मुसलमान मत में रत रहेने के कारण लाला जी की मॉ बहुत दुखी रहती थी।[1]

लाजपत राय को प्रारंभिक शिक्षा अपने पिता तथा स्कूल एवं मकतब से प्राप्त हुयी, इनके पिता रोषड़ जिले के स्कूल में फारसी के शिक्षक थे, उन्होनें सारी प्रारंभिक शिक्षा वहीं पर प्राप्त की। प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा में लाजपतराय सदैव प्रथम श्रेणी में आते रहे, 13 वर्ष की आयु में उन्होने मिडिल परीक्षा पास की। उसके बाद लाजपत राय को उच्च शिक्षा हेतु लाहौर भेज दिया गया। लाजपत ने शिक्षा काल मे बहुत से इनाम जीते । उन्हें उच्च शिक्षा के अध्ययनकाल में सात रूपये मासिक छात्रवृत्ति मिली, रोपड़ में मलेरिया का बहुत जोर रहता था, लाजपत राय साल में छः मास बीमार रहते थे। उनके पिता रोपड़ से दिल्ली में कुछ समय तक रहे, वहॉ का जलवायु भी लालाजी के अनुकूल नहीं रहा। वे वहॉ पर भी बीमार रहे। लाला जी 1877 में मुश्किल से साढ़े बारह वर्ष के रहे होगें, उनका विवाह राधा देवी से कर दिया गया। 1879 का पूरा वर्ष लाला जी ने ननिहाल जगरॉव में अपनी माता और भाईयों की सेवा में बिताया।[1]

लाला लाजपत राय ने 1880 में लुधियाना के मिशन स्कूल में प्रवेश लिया, वहॉ के हेडमास्टर ने उन्हें एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी समझकर छात्रवृत्ति स्वीकृत कर दी, लाला जी को यहॉ पर भी बीमारी से मुक्ति नही मिली, इनके पिता का

---

[1] फिरोज चन्द लाजपतराय, नई दिल्ली प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, 1987 पृ0सं0 12

[1] लाला लाजपत राय, मेरी आत्मकथा, लाला लाजपत राय ग्रंथावली भाग–II, दिल्ली संस्कार प्रकाशन, 2006 पृ0सं0 34

तबादला अम्बाला हो गया। लाला लाजपत राय अम्बाला में भी बीमार रहे। वे 1880 में पुनः लाहौर गये लाहौर में लाजपतराय के पिता के दो दोस्त रहते थे। वे गवर्नमेण्ट कालेज के छात्रावास0 में जाकर रूक गये। लाला भवानीदास ने लाला लाजपतराय की परीक्षा–तैयारी में पूरी मदद की, उस समय पंजाब वि0वि0 प्रारंभिक अवस्था में था, उसे वि0वि0 के पूरे अधिकार भी प्राप्त नहीं थे। डॉ0 लाइटनर साहब इसके संचालक थे। वे इसे विशाल पूर्वीय वि0वि0 बनाना चाहते थे। उनका आशय यह था कि शिक्षा पूर्वी भाषाओं के माध्यम से हो। उस समय कलकत्ता विश्वविद्यालय का बोलबाला था। कलकत्ता वि0वि0 ही पक्का विश्वविद्यालय था, उसकी उपाधियों तथा सनदों का आदर था, किन्तु लोग पंजाब, वि0वि0 के कालेज की परीक्षायें भी देते थे, क्योकि लाइटनर साहब शिक्षार्थियों को अपने वि0वि0 की ओर छात्रवृत्तियॉ देकर आकृष्ट करते थे। लाला जी ने दो प्रवेश परीक्षायें दी, कलकत्ता केवल चार अनिवार्य विषयों में परीक्षा लेता था, जनवरी 1880 में प्रवेश–परीक्षाओं का परिणाम घोषित हुआ, जिनमें से लालाजी दोनों परीक्षाओं में सफल सिद्व हुए, कलकत्ता वि0वि0 में वे प्रथम श्रेणी में सफल हुए तथा पंजाब वि0वि0 की परीक्षा में 100 सफल परीक्षार्थियों में लाला जी का 53 वां स्थान था।[1]

लाला जी के पिता का कम वेतन होने के बावजूद वे उन्हें उच्च शिक्षा अवश्य दिलाना चाहते थे। लाजपतराय फरवरी 1881 में लाहौर पहॅुचे और उसी बोर्डिंग में रहने लगे। उन दिनों लाहौर में केवल सरकारी कालेज था, दो रूपये मासिक फीस लगती थी, बोर्डिंग हाउस की फीस एक रूपया थी। बोर्डिंग हाउस में तीन कोठियॉ थी, दो कोठियॉ एक ही अहाते में थी।

---

[1] लाला लाजपत राय, मेरी आत्मकथा, लाला लाजपत राय ग्रंथावली भाग–II, दिल्ली संस्कार प्रकाशन, 2006 पृ0सं0 37, 38।

बोर्डिंग हाउस उस समय जर्जर हालत में था। विद्यार्थियों के हाथ में भोजन–प्रबंध रहता था। बोर्डिंग हाउस का प्रबन्धन अच्छा नहीं था। उस समय लाला जी की आयु 16 वर्ष 02 माह थी। लाला जी अपनी कक्षा में सबसे कम आयु के विद्यार्थी थे। वे बहुत दिनों तक बीमार रहे, उन्हें चक्षु–पीड़ा रही, काफी प्रयत्न के बाद लाला जी को वि0वि0 से आठ रूपयों की मासिक छात्रवृत्ति प्राप्त हो गयी। लाला जी जब लाहौर पहुँचे थे तो उनका एकमात्र उद्देश्य डिग्री हासिल करना था किन्तु बोर्डिंग हाउस के कुछ छात्रों की सम्मति से लाला जी कानून की कक्षा में भी भरती हो गये। लाला जी आठ रूपयों की छात्रवृत्ति से सभी कक्षाओं की फीस अदा करते थे। लाला जी उस छोटी सी धनराशि से ही अपना गुजारा करते थें। कानून की किताबों पर अधिक व्यय होता था। उन्होनें साधारण शिक्षा की भी बहुत कम किताबें खरीदी, अपने मित्रों से तथा इधर–उधर से मांग कर काम चलाते थे।[1]

लाला लाजपत राय के माता–पिता उनके लिए बहुत कष्ट उठाते थे। वे रूपये उधार लेकर भी उन्हें भेजने को तैयार रहते थें। लालाजी बहुत किफायती से रहते थे। कानून की प्रथम वर्ष की परीक्षा के लिए लाला जी ने कठोर परिश्रम किया, उन्हें पीलिया रोग हो गया, उनका पूरा वर्ष कष्ट में बीता, पूरे सूबे में बुखार फैला हुआ था, छात्रों ने समय बढ़ाने की मांग की, फलतः उन्हें परीक्षा के लिए दो माह और मिल गये। परीक्षा फरवरी 1882 में सम्पन्न हुयी।

लाला लाजपत राय इस परीक्षा में सफल हो गये, इससे उनके अन्दर आत्मविश्वास में वृद्धि हुई उसके बाद उन्होनें वकालत की परीक्षा की तैयारी की, संयोग से कुछ बाधाओं के कारण वे 1882 में कानून की परीक्षा में असफल रहे,

---

[1] लाला लाजपत राय, मेरी आत्मकथा, लाला लाजपत राय ग्रंथावली भाग–II, दिल्ली संस्कार प्रकाशन, 2006 पृ0सं0 38, 39।

इसी बीच लाला जी की मनोभूमि में राष्ट्रनुराग का अंकुरण हो गया, वे 1883 में मुख्तियारी का लाइसेन्स लेकर काम करने लिए जगराव चले गये, इस तरह उनकी नियमित शिक्षा का समापन हो गया। लाला जी दो साल लाहौर में रहे, वहॉ के सरकारी कालेज में दो वर्ष अध्ययन में बिताये, जिसमें बहुत सा समय कानून की परीक्षा, बीमारी तथा देशसेवा के प्रारंभिक प्रयास में बीता, सरकारी कालेज के सभी गुरूजन लाला जी से प्रसन्न रहते थे, प्रोफेसर शशिभूषण मुखर्जी तथा प्रोफेसर अर्जुन का उनके प्रति विशेष लगाव था।[1]

लाला लाजपत राय ने अपने जीवन के 18वें बसन्त को पार किया था कि उनके अंतस में समाज सुधार को एवं उनकी संस्थाओं को लेकर खलबली उत्पन्न हो गयी। उस समय ब्रह्ममसमाज के तीन दलों में वाद–विवाद जोरो पर था, लालाजी को इन संस्थाओं के साहित्यिक सानिध्य से ईसाई महजब एवं अन्य धर्मो के सम्बन्ध में सभी कुछ ज्ञात हो गया। इसी बीच लालाजी को अपने मित्रों में से पं0 गुरूदत्त तथा लाला हंसराज का सामीप्य मिला, जिससे वे आर्य समाज से जुड़ गये। उस समय लाला जी हर दिन की घटनाओं (रोजनामचा) को लिपिबद्व किया करते थे। लाहौर कालेज में बीता समय उनके लिए महत्वपूर्ण साबित हुआ, लाला जी के सार्वजनिक चरित्र को उन्हीं दो वर्षो ने स्थायी बनाया था।

लाहौर के शिक्षा काल ने ही लाला जी के अन्दर राष्ट्र प्रेम की लहर पैदा की थी, इन्ही दो वर्षो ने उनमें राजनैतिक स्वाधीनता के प्रति लगाव पैदा कर दिया। लाला जी 1882 में पहली बार आर्य समाज में गये, जहॉ पर उनसे लाला साईदास ने सदस्यता–आवेदन पत्र हस्ताक्षर कराये। उस समय लाला जी ने अपना पहला

[1] लाला लाजपत राय, मेरी आत्मकथा, लाला लाजपत राय ग्रंथावली भाग–II, दिल्ली संस्कार प्रकाशन, 2006 पृ0सं0 39, 40

व्याख्यान दिया, जिस पर उन्हें खूब वाहवाही मिली। लाजपत राय प्रसन्नतापूर्वक अपने घर पहुँचे। लाला जी ने आर्य समाज से वैदिक धर्म के प्रति अनुराग सीखा, आर्य सभ्यता से परिचित हुये, उनके अन्दर प्रेम की भावना जागी। आर्य समाज ने उनमें आत्म–त्याग एवं बलिदान की भावना पैदा की। उन्हें सांगठनिक शक्ति प्रदान की। आर्य समाज ने ही लाला जी के अन्दर सार्वजनिक सेवा की उत्कृष्ट भावना उद्भूत की।

लाला लाजपतराय के आर्य समाज से जुड़ते ही उन्हें दायित्व सौंप दिया गया। उन्हें जवाहर सिंह साहिब के साथ व्याख्यान हेतु संयुक्त प्रान्त भेज दिया गया। उन्होनें मेरठ तथा फर्रूखाबाद में आर्य समाज के बैनर तले व्याख्यान दिये, जिसमें उन्होनें बहुत सी तालियाँ बटोरी, उन्होनें आठ माह तक आर्य समाज में कोई कार्य नहीं किया, उसके बाद पं0 गुरूदत्त तथा लाला हंसराज की परामर्श पर रीजनेटर ऑफ आर्यावर्त तथा देशोपकारक नामक दो समाचार पत्र निकाले, उनके दोनो मित्रों ने अंग्रेजी समाचार पत्र को दो वर्षो तक चलाया।[1]

स्वाधीनता आन्दोलन और लाला लाजपत राय

लाला लाजपत राय एक महान देशभक्त तथा स्वातन्त्रय संघर्ष के उग्रवादी सेनानी थे। उन्होनें राष्ट्रवाद, स्वदेशी, स्वराज्य तथा स्वतंत्रता आदि पर निर्भीक विचार प्रस्तुत किये। उन्होनें उदारवादी नीति को राजनीतिक भिक्षावृत्ति की संज्ञा प्रदान करते हुए देश में स्वावलम्बन के लिए ललकारा।

---

[1] लाला लाजपत राय, मेरी आत्मकथा, लाला लाजपत राय ग्रंथावली भाग–II, दिल्ली संस्कार प्रकाशन, 2006 पृ0सं0 45 ।

राष्ट्रवाद

लालाजी का जीवन कर्म और संघर्ष का जीवन था, उनका आदर्श भारतीय राष्ट्रवाद था, इसी आदर्श के लिए उन्होनें कार्य किया, कष्ट सहन किए, अन्ततः राष्ट्रीय स्वातन्त्रय संघर्ष – वेदी में आत्मा हुति देकर अमर होता हो गये। उन्होनें राष्ट्रवाद को एक नया अर्थ प्रदान किया, उनके विचारों ने राष्ट्रीय आन्दोलन को नया रंग दिया, एक नया आयाम दिया। लाला जी को राष्ट्र के प्रति अगाध श्रद्धा थी, गोरे साम्राज्यवाद को समूल नष्ट करने के लिए वे भारत के राष्ट्रवाद के उत्थान के समर्थक थे। राष्ट्रवाद उनके विचारों में केन्द्रीय महत्व रखता था। लाला जी का स्पष्ट मत था कि राष्ट्रवाद के मार्ग पर ही चलकर मातृभूमि के दासता–बन्धनों को काटा जा सकता है। देशभक्तों का एक मात्र उद्देश्य या धर्म देशभक्ति तथा एकमात्र उपस्य देवी मातृभूमि होना चाहिये, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं होना चाहिये।

लाला जी के लिए देशभक्ति का अर्थ था स्वतंत्रता और न्याय के लिए सर्वस्य न्योछावर– लाला जी ने देशभक्ति की भावना को राष्ट्रवादी रंग से सराबोर किया। लाला जी का विचार था कि एक अच्छी सरकार स्वशासन का स्थानापन्न नहीं हो सकती। हम अपनी आत्मा को खोकर यदि दुनिया का प्रभुत्व प्राप्त कर लें तो भी क्या लाभ? लाला जी की सोच थी कि क्या स्वतंत्रता और सम्मान के तराजू पर दुनिया की सारी दौलत को तौला जा सकता है। एक गुलाम प्रजा की कोई आत्मा नहीं होती, ठीक उसी तरह कि एक गुलाम व्यक्ति अथवा एक दास के सही अर्थो में आत्मा नहीं होती। इसी प्रकार के विचारों से लाला लाजपतराय ने राष्ट्रीय आन्दोलन को अनुप्राणित किया था। लाला जी को उदारवादी चिन्तन तथा पद्धति में कोई आस्था नहीं थीं वस्तुतः यदि देखा जाये तो यह निष्कर्ष निकलता है कि लाला लाजपतराय ने भारतीय राष्ट्रवाद को एक नयी दिशा दी।

लाला जी का राष्ट्रवाद संकीर्णता की सीमाओं से सम्वेष्टित नहीं था। वे न्याय, स्वतंत्रता और समानता के आकॉक्षी थे। वे गोरी जाति तथा रंगभेदी नीति के कटु आलोचक थे।

स्वराज्य और स्वतंत्रता

लाला जी स्वराज्य के प्रबल समर्थक थे, उनके लिए स्वतंत्रता जीवन का लक्ष्य थी। उनका मत था कि स्वराज्य इसी में हे कि जनता को अपनी इच्छानुसार शासन चलाने का अधिकार मिले ।

उनके स्वराज्य की अवधारणा में सभी जातियों और वर्गो के कल्याण की भावना निहित थी। उनका राष्ट्रवाद किसी एक जाति विशेष का नहीं वरन् सभी देशवासियों का राष्ट्रवाद था। उनकी राष्ट्रवाद की धारणा 19वीं सदी के इटली के राष्ट्रवादियों की धारणा से मेल खाती थी। वे इस सिद्वान्त के समर्थक थे कि हर राष्ट्र को अपने आदर्शो को निश्चित और कार्यान्वित करने का अधिकार है उनका मानना था कि भारत को शक्तिशाली स्वतंत्र राजनीतिक जीवन का निर्माण कर अपने को मजबूत बनाना चाहिये, शासितों की सहमति किसी सरकार का एकमात्र तर्कसंगत तथा वैध आधार है। लाला जी अड़ियल रूख के नहीं थे। वे गृह शासन होमरूल अथवा औपनिवेशिक स्वराज्य को भी स्वीकार करने को तैयार थे। उनका राजनीतिक जीवन तूफानी था तथा पूर्ण स्वाधीनता की भावना उनके ह्दय में हिलोरे लेती थी।

लाला लाजपतराय की दृष्टि में स्वराज्य कोई घर, कारखाना या नगर नहीं था, जिसका निर्माण धीरे–धीरे हो, स्वराज्य कोई रियासत या उपहार भी नहीं कि जिसे रह–रहकर बांटा जाये। स्वराज्य का प्रश्न स्वतंत्रताओं के वितरण का प्रश्न नहीं है, बल्कि हमारे एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में जन्म लेने का है। वे तिलक के समान संगठित जनशक्ति में भरोसा रखते थे। वे जनता का साथ लेकर चलना चाहते थे।

स्वदेशी की अवधारणा

लाला जी स्वदेशी के समर्थक थे उनका मानना था कि स्वदेशी भारत की दुख दरिद्रता को खत्म कर सकती है। उनकी दृष्टि में स्वदेशी का अर्थ था अपने देश की वस्तुओं का प्रयोग, स्वदेशी के महत्व को स्पष्ट करते हुए लाला जी ने कहा था– में इसे अपने देश के लिए उद्वार समझता हूँ, स्वदेशी आन्दोलन को हमें आत्माभिमानी, आत्मविश्वासी, स्वावलम्बी और त्यागी बनाना चाहिये। स्वदेशी हमें धर्म और जातियों के बन्धनों से मुक्ति दिला सकती है। उनकी दृष्टि में स्वदेशी ही वह प्रभावशाली अस्त्र था, जिसके माध्यम से दासता के बन्धन से छुटकारा मिल सकता है।

आतंकवाद और सशस्त्र क्रांति में आस्था नहीं

लाला जी यद्यपि उदारवादी साधनों मे विश्वास नहीं करते थे किन्तु उन्होनें न तो कभी आतंकवाद को प्रोत्साहित किया और न ही सशस्त्र क्रांति का समर्थन। उन्होनें हमेशा यह कहा कि हिंसक कार्यवाही से अलग रहा जाये। उनका देश के लिए संदेश था कि हमें राष्ट्र के मनोबल का निर्माण, निर्देशन, नियंत्रण इस प्रकार करना चाहिये कि वह अजेय हो उठे। सशस्त्र क्रांति तथा आतंकवाद का विरोध करते हुए भी उन्होनें देशवासियों को ब्रिटिश अत्याचार का मुकाबला करने की प्रेरणा दी। लाला लाजपतराय मन और ह्दय की क्रांति के इच्छुक थे, शस्त्रों की खून क्रांति के नहीं। वे गांधीवादी आत्मबल से आपूरित पद्वति के पक्षधर थे। वे देश भक्त क्रांतिकारियों के साहस और बलिदान का पूरा सम्मान करते थे किन्तु हिंसा के समर्थक नहीं थे।

हिन्दू-मुस्लिम एकता का समर्थन

लाला जी ने देशवासियों से अपने मतभेदों को मिटाकर आपसी भाईचारे की भावना से रहने की अपील की। उनका मानना था कि देश की एकता तभी संभव होगी जब इस देश की दो प्रमुख जातियाँ एक दूसरे को ह्र्दय से समझने का प्रयत्न करें। उन्होनें देश के लिए हिन्दु मुस्लिम एकता को महत्वपूर्ण माना। वे इन दो जातियों की एकता के दूरगामी परिणाम से परिचित थे। इस एकता के सामाजिक व राजनीतिक महत्व को वे भली–भांति आँक चुके थे। इसलिए उनका विचार था यदि हिन्दु–मुस्लिम दंगे कभी भड़क उठें तो उन्हें रोकने का फौरी प्रसास किया जाना चाहिये।

समाजवाद और संगठित श्रम की अवधारणा

लाला लाजपत राय सामाजिक लोकतंत्रवादी थे। उनका आदर्श एक सामाजिक लोकतंत्र की स्थापना करना था। भारत की मौलिक समस्याओं का अध्ययन करके उन्होनें यह निष्कर्ष निकाला था कि इस देश की समस्यायें मुख्यतः राजनीतिक तथा आर्थिक हैं, सामाजिक परम्पराओं की समस्या एक सह समस्या है। वे एक ऐसे सामाजिक लोकतंत्रवादी थे जो श्रम और पूँजी में संघर्ष को टालना चाहते थे । उनका मानना था कि भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए श्रम और पूंजीवाद को समान स्तर पर मिलना चाहिये। समाजवाद से उनका अभिप्राय एक ऐसी व्यवस्था से था, जिसमें श्रमिकों का किसी भी प्रकार से शोषण न हो। वे श्रमिकों के साथ न्याय के समर्थक थे।

साइमन कमीशन और लाला लाजपत राय

साइमन कमीशन 11 अक्टूबर 1928 को रात्रि के समय भारत पहुँचा, उसे 30 अक्टूबर को लाहौर पहुँचना था। 27 व 28 अक्टूबर 1928 को लाला जी ने इटावा में आगरा प्रान्तीय हिंदू सम्मेलन की अध्यक्षता की, वे वहाँ पर नेहरू रिर्पोट के पक्ष में हिन्दू जनमत को तैयार करने के लिए गये थे। उनके कार्यक्रम में दो बातें प्रमुख थीं– पहली साइमन कमीशन का बहिष्कार तथा दूसरी नेहरू रिपोर्ट । वे इटावा से शीघ्र लाहौर पहुँचे ताकि वहाँ बहिष्कार का नेतृत्व कर सकें। 30 अक्टूबर 1928 को वे साइमन वापस जाओ के विशाल जनसमूह की अगुवाई कर रहे थे। कानून और व्यवस्था के अधिकारियों की मनः स्थिति कुछ और थी, उन्होनें पुलिस कर्मियों को लाठियों के साथ तैयार कर रखा था, उनका पत्रकारों के प्रति भी व्यवहार अवांछित था।[1]

शांतिपूर्ण जनसमूह पर लाठी चार्ज किया गया, उस नेता पर भी, जिसने जनसमूह को उत्तेजना के बावजूद संयत और व्यवस्थित रखा था। लाठियां बरसती रहीं, मुख्य आक्रमणकारी पुलिस अधीक्षक स्काट तथा दूसरा सहायक सांडर्स था। उस दिन गोरी पुलिस की क्रूरता के शिकार लाला जी बने। उन्होनें पूरे साहस तथा पौरूष से लाठियॉ झेली, वे न तो भागे और न ही पीछे हटे, और न ही अपने स्थान से हिले। उन्होनें वीरता से चोटें सहीं तथा लाठी प्रहारकों को शेर की तरह ललकारा।

---

[1] फिरोज चन्द लाजपतराय, नई दिल्ली प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, 1987 पृ0सं0 557, 558

संघानिक चोटों को सहन करने के बाद उन्होनें वापसी में भी जनसमूह का नेतत्व किया, लाहौर के लोग भाटीगेट के बाहर निकल कर एक विशाल समूह के रूप में एकत्रित हुए, घायल शेर फिर दहाड़ा, लाला जी ने घटना का पूरा विवरण दिया, उन्होनें अत्याचार का चिर स्मरणीय उत्तर दिया, उन्होनें कहा– हम पर मारी गयी लाठी की प्रत्येक चोट साम्राज्य के ताबूत में कील सिद्व होगी। उनकी आवाज की यह प्रतिध्वनि सारे देश में गूँज उठी। 30 अक्टूबर के लाठी–प्रहार के बाद उनके शारीरिक स्वास्थ्य में कमी तो आ ही गयी थी। उसके बाद भी वे राष्ट्र सेवा मे जुटे रहे। लाला जी को संदेह था कि कहीं उन्हें डेंगु ज्वर न हो जाये। 16 नवम्बर 1928 को रात्रि मे डाक्टर ने उनकी देखभाल की, वे लाला जी को दवा देकर चले गये। 16 नवम्बर की रात्रि उनके लिए कालनिशा सिद्व हुयी, पंजाब केसरी सदैव के लिए नींद मे सो गया, पंजाब का शेर नही रहा।

लाला लाजपतराय की मौत से सारा देश शोक–सन्तप्त हो उठा, उनकी मौत राष्ट्रीय अपमान था, क्रांतिधर्मी युवा इस राष्ट्रीय अपमान को कैसे सहन कर सकते थे, फलतः भगत सिंह और उनके साथियों ने साण्डर्स को मौत के घाट उतार कर देश के अपमान का बदला ले लिया। लाला जी का सार्वजनिक जीवन हिन्दी–उर्दू आन्दोलन से प्रारंभ होकर साइमन कमीशन के बहिष्कार तक चला। वे मोम की तरह कोमल तथा इस्पात की तरह कठोर थे। वे उच्चकोटि के देशभक्त थे।

विपिन चन्द्र पाल

विपिन चन्द्र पाल एक महान देशभक्त, ओजस्वी वक्ता एवं विश्रुत पत्रकार थे, स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के नये सिद्वांत का प्रचार करते हुए सारे देश में उन्होनें अपनी वाक् क्षमता से धाक जमा दी थी। वे पॉच दशकों से भी अधिक सार्वजनिक जीवन में अग्रणी रहे।

जन्म और शिक्षा

विपिन चन्द्र पाल का जन्म 07 नवम्बर 1858 को सिल्हट जिले के पोइल गांव मे हुआ था, पोइल एक बड़ा गांव था। यह विपिन चन्द्र के पूर्वज़ों का जन्म स्थान रहा था। विपिन चन्द्र के पिता का नाम रामचंद्र पाल था, उनकी शिक्षा फारसी में हुई थी, फारसी को मुगल साम्राज्य की कचहरी की भाषा माना जाता था, रामचन्द्रपाल इस भाषा में बहुत प्रवीण थे। उन्हें ढाका के उप न्यायाधीश कार्यालय में क्लर्क का पद मिल गया, वे बाद में पेशकार तथा मुशीं भी बने।[1]

विपिन चन्द्र पाल जब पॉच वर्ष के हुए तो उनका उपनयन संस्कार हुआ, इस संस्कार को पढ़ाई–लिखाई के लिए आवश्यक माना जाता था। उन्हें प्रारम्भिक शिक्षा पिता से ही मिली, सिल्हट में तीन स्कूल थे। उनके से एक़ मिडिल स्कूल था, मिशन स्कूल में आठ कक्षायें होती थीं उन दिनों सबसे छोटी कक्षा को आठवीं कहते थे, जिसमें विपिन चन्द्र पाल का प्रवेश हुआ।

वे शुरू की दो कक्षाओं में सबसे अधिक अंक पाते रहे, वे अंगेजी में हमेशा अव्वल आते थे। पाल की प्रारंभिक शिक्षा भी निरापद नहीं रही, कई उतार–चढ़ाव उन्हें शिक्षा के ऊषाकाल में देखने पड़े, जिससे वे उद्वेलित हो उठे। वे उच्च शिक्षा के लिए कलकत्ता वि0वि0 की प्रवेश परीक्षा में बैठे, जिसमें वे उत्तीर्ण हो गये। विपिन चन्द्र पाल ने कलकत्ता वि0वि0 में प्रवेश लिया। उच्च शिक्षा में पाल को कोई विशेष सफलता प्राप्त नही हुयी।

---

[1] सरल कुमार चटर्जी, विपिन चन्द्र पाल, नई दिल्ली प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार 1997, पृ0सं0 8,9

विपिनचन्द्र पाल शिक्षा काल में ही कुछ राष्ट्रधर्मी साहित्य, तत्कालीन घटित घटनाओं, बंकिम चन्द्र, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा विजय कृष्ण गोस्वामी की शिक्षाओं से विशेष रूप से प्रभावित हुए। उन्होनें एक अध्यापक के रूप में अपने सार्वजनिक जीवन का शुभारम्भ किया। 1876 में शिवनाथ शास्त्री ने उन्हें ब्रह्म समाज की दीक्षा दी, उन्होनें परवर्ती जीवन में वैष्णव धर्म को स्वीकार कर लिया।

स्वाधीनता आन्दोलन और विपिन चन्द्र पाल

विपिन चन्द्र पाल ने भारतीय राजनीति में एक उदारवादी राष्ट्रधर्मी के रूप में प्रवेश किया लेकिन गोरी सरकार की प्रतिशोधी नीति के फलस्वरूप उनके हदय में उद्वेलन प्रारंभ हो गया। उन्हें बंगाल विभाजन की घटना ने बहुत प्रभावित किया, वे उग्रवादी विचारधारा के समर्थक बन गये, वे लाल–बाल के साथ मिलकर लाल–बाल–पाल– के रूप में त्रिमूति तरस्वी बन गये।

राष्ट्रवाद का सिद्धान्त

पाल ने सावयवी सिद्धान्त पर विश्वास प्रकट किया। उनका विचार था कि राष्ट्र अलग–अलग व्यक्तियों का कोई कृत्रिम समूह नहीं है वरन् एक सावयव है, जो व्यक्तियों के बीच बने बौद्विक और नैतिक बन्धनों के आधार पर बना है। पाल पक्के राष्ट्रसेवी थे। उन्होनें जनता का आवाह्न किया कि वे तन–मन–धन से राष्ट्र सेवा के लिए तत्पर रहें, उन्होंने राष्ट्र के सभी व्यक्तियों की संकुल आत्मा की राष्ट्रवादी संज्ञा प्रदान की। उन्होनें राष्ट्र की भौतिक नही अपितु आध्यात्मिक एवं नैतिक सावयव की संज्ञा प्रदान की। पाल ने आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का प्रतिपादन किया।

एक यर्थाथवादी विचारक तथा राजनीतिज्ञ के रूप में उन्होनें अपनी पुस्तक स्वदेशी तथा स्वराज में विवेचित किया है कि राजनीति शतरंज का खेल है, हमारा राष्ट्रवाद ठोस आधार पर अवलम्बिलत होना चाहिये, जिसके लिए धार्मिक चरित्र का अनुपालन आवश्यक है। पाल ने वंदेमातरम् पत्र के माध्यम से देशवासियों को स्वराज्य का संदेश दिया, उन्होनें स्वावलम्बन स्वनिर्णय तथा स्वाधिकारों पर विशेष रूप में बल दिया उन्होनें राजनीतिक भिक्षावृत्ति की निंदा की। पाल अभिनव राष्ट्रवादी थें। अभिनव राष्ट्रवादी भारत के लिए शीघ्रातिशीघ्र स्वराज्य या स्वाधीनता के आकॉक्षी थे। वस्तुतः लाल–बाल–पाल तथा अरविंद घोष जैसे नेता युद्वोन्मुखी राष्ट्रवादिता की विचारधारा के प्रमुख व्याख्याता थे।

देवी लोकतंत्र, स्वराज्य तथा राष्ट्रमण्डल

पाल ने दैवी लोकतंत्र के आदर्श का प्रतिपादन किया। उन्होनें ऐसे लोकतंत्र को यूरोप तथा पश्चिाम के लोकतंत्र से उच्च माना।

पाल ने स्वराज्य का अर्थ दैवी लोकतंत्र से लेते हुए बताया कि भारत की स्वतंत्रता देश के ऐतिहासिक आदर्शो के अनुरूप होना चाहिये यदि स्वराज्य भारत की जनता का नही हुआ तो उसमें कोई सार्थकता नही होगी। मनुष्य ईश्वरीय रूप है, भारतीय लोकतंत्र की समानता प्रत्येक व्यक्ति में निहित दैवी प्रकृति की समानता है। पाल ने अपने समकालीन नेताओं की अपेक्षा स्वराज्य की एक नई धारणा प्रस्तुत की, उसे बड़े रूप में प्रयुक्त किया। पाल ने स्व का अर्थ आत्मा के रूप में किया। स्वराज्य में उन्होनें देश के सभी वर्गो और जातियों द्वारा भाग लिया जाना अनिवार्य माना। पाल ने स्वतंत्रता तथा स्वराज्य को पर्यायवाची नहीं माना। उनके अनुसार स्वराज्य की धारणा सकारात्मक है, जबकि स्वतंत्रता की धारणा नकारात्मक है।

पाल ने ब्रिटिश साम्राज्य में अन्तर्निहित विकास को पहले से ही भाँपकर राष्ट्रमण्डल की सम्भावना का संकेत देकर अपनी विलक्षण दूरदर्शिता का परिचय दिया।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि विपिन चन्द पाल एक महान देश भक्त, प्रतिभावान, चतुर पत्रकार तथा परिपक्व चिन्तक थे, जिन्होनें भारतीय चरित्र को बहुत निकट से देखा। उन्होनें शुरू में अतिवादी आन्दोलन को समर्थन देकर उसे उर्जावान बनाया। वे आगे चलकर साम्राज्यीय संघ के पक्षपोषक बन गये। उनमें एक नये अन्तर्राष्ट्रीय अवधारणा का विकास हुआ। वे राजनीति में पूर्ण उदारवादी कभीं नही हुए। स्वाधीनता आन्दोलन में उनके अनुदाय को भुलाया नही जा सकता है।

अरविंद घोष

आधुनिक भारत के महापुरूषों में महर्षि अरविंद का नाम अपना एक अलग महत्व रखता है, रोम्या रोलाँ ने उन्हें भारतीय विचारकों का सम्राट तथा एशिया एवं यूरोपीय प्रतिभा का समन्वय कहकर जो सम्बन्धित किया है, उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। डॉ0 फ्रेडरिक ने उन्हें हमारे युग का पैगम्बर कहकर पुकारा है। अरविंद एक महान राजनीतिक चिन्तक थे, स्वातन्त्रय संघर्ष में उनका प्रभावी योगदान रहा, उन्होनें अपने जीवन के अन्तिम चार दशक पाण्डिचेरी में व्यतीत किये, आध्यात्मिक क्षेत्र में भी अपनी एक अलग पहचान बनायी। पाण्डिचेरी मे उनका ठहराव आध्यात्मिक अन्वेषियों के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गया।

जन्म और शिक्षा

अरविंद घोष का जन्म 15 अगस्त 1872 को कलकत्ता में बैरिस्टर मनमोहन घोष के यहाँ हुआ था। उनके पिता का नाम कृष्णधन घोष तथा माँ का नाम

स्वर्णलता था। वे अपनी माता–पिता की तीसरी सन्तान थे। अरविंद घोष के पिता पाश्चात्य सभ्यता के प्रेमी थे, वे अंग्रेजियत के रंग में रंगे हुए थे। राज नारायन बोस अरविंद के नाना थे, जो भारतीय संस्कृति के पक्षधर थे, उन्होनें बंगाली समाज को राष्ट्रीय संस्कृति तथा परम्पराओं की ओर मोड़ने का भरसक प्रयत्न भी किया था। कृष्णधन घोष सरकारी अस्पताल में बड़े डाक्टर थे। वे अंग्रेजियत में पले हुए थे। वे पहले से विचार बना लिए थे कि बच्चों का लालन–पालन तथा शिक्षण यूरोपीय ढंग से कराया जायेगा। 1877 में अरविंद तथा उनके दोनो भाई दार्जिलिंग के लॉरेटो कॉन्वेण्ट स्कूल में भर्ती करा दिये गये। उनकी वहां पर देखभाल आयरिश ननों के हाथ में था, वे वहां दो वर्ष रहे, जहॉ पर उन्हें प्रकृति का मनोरम दृश्य देखने को मिला।[1]

डॉ0 कृष्णधन घोष अपने तीनों पुत्रों को अगली शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड ले गये, उन्होनें वहां पर मैन्चेस्टर में अपने एक मित्र के यहाँ पुत्रों के रहने की व्यवस्था कर दी। उस समय अरविंद की उम्र 07 वर्ष की थी। अरविंद को ड्रियुएट दम्पति घर पर पढ़ाते थे ड्रियुएट लैटिन भाषा में पारंगत हासिल किये थे। उन्होनें अरविंद घोष को लैटिन तथा अंग्रेजी भाषा में दक्ष कर दिया था। श्रीमती ड्रियुएट एक अरविंद को इतिहास–भूगोल, फ्रेंच तथा गणित पढ़ाती थी, अरविद जब सात वर्ष के थे तभी से उनके मस्तिष्क में हलचल पैदा हो जाती थी, उन्हें यह आभास होता था कि विश्व में क्रांतिकारी परिवर्तन होगें। अरविंद के पिता अंग्रेजी परम्परा के कायल थे। उन्होनें अरविंद के नाम के आगे कुमारी ऐनेट का कुल नाम ऐकराएड जुड़वा दिया था, कुमारी ऐनेट मनमोहन घोष की मित्र थीं। अरविंद के नामकरण के समय वहँ पर उपस्थित थी, बाद में अरविंद ने अपने नाम के साथ ऐकरा एड लगाना छोड़ दिया था।

---

[1] नवजात, श्री अरविंद, नई दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट, 1972, पृ0सं0 – 01,02 ।

1884 में अरविंद तथा उनके बड़े भाई मनमोहन का लंदन के सेण्ट वाल्स स्कूल में प्रवेश हो गया। वहां के हेडमास्टर डॉ0 वाकर ने अरविंद को स्वंय ग्रीक भाषा का अभ्यास कराया, लंदन में तीनो भाई कुछ दिन ड्रियुएट महाशय की बूढ़ी मां के साथ रहे। अरविंद घोष को लंदन के शैक्षिक जीवन में कष्ट उठाने पड़े । अरविंद 1890 में लंदन के किंग कालेज कैम्ब्रिज आ गये जहाँ पर उन्हें 80 पौण्ड वार्षिक सीनियर छात्रवृत्ति मिलने लगी। उन्होने ग्रीन तथा लैटिन के पद्यति में एक ही वर्ष में सभी पुरस्कार जीत लिए। वे ट्राइपस के पहले वर्ष में मेरिट में बहुत ऊँचे स्थान पर थे।

अरविंद घोष ने 1890 में आई0पी0एस की परीक्षा में बैठे, वे उसमें सफल हो गये किन्तु उन्हें यह प्रशासनिक सेवा पसंद नही थी, वे जान–बूझकर घुड़सवारी में असफल रहे, फलतः उन्हें आयोग आई0पी0एस के अयोग्य ठहरा दिया। लंदन आयोग के शिक्षा–काल में अरविंद तथा उसके चचेरे भाईयों की मनोभूमि में मातृभूमि के प्रति अनुराग का अंकुरण हो चुका था। वे लंदन के भारतीयों के छोटे से क्रांतिकारी दल के सदस्य बन चुके थे। अरविंद ने लंदन प्रवास के अन्तिम दिनों में भारतीयों की गुप्त समिति के बैठक में भाग लिया था। अरविंद को जब आई0पी0एस0 के अयोग्य ठहरा गया तो उस समय बड़ौदा नरेश गायकवाड़ लंदन में थे हेनरी कॉटन के भाई ने अरविंद घोष का बड़ौदा नरेश से परिचय कराया था, इसी परिचय के आधार पर उन्हें बड़ौदा नरेश के यहाँ नौकरी मिल गयी थी। अरविंद घोष इंग्लैण्ड में 18 वर्ष रहे।

अरविंद घोष 8 फरवरी, 1893 को बड़ौदा राज्य–सेवा में आये। अरविंद घोष 1903 में राजनीतिक क्षेत्र में उतरे। 1900 में वे बड़ौदा कालेज में अंग्रेजी के

प्राध्यापक तथा बाद मे वहीं पर उपप्रधानाचार्य बना दिये गये। अरविंद घोष ने बड़ौदा में रहकर संस्कृत, मराठी, गुजराती और बांग्ल भाषा सीखी। भारतीय संस्कृति का गहन अध्ययन किया। स्वाधीनता आन्दोलन में उनके आन्दोलन को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

कांग्रेस और अरविंद घोष

अरविंद घोष कांग्रेस नीति के आलोचक रहे, उनका मानना था कि कांग्रेस ने स्वाधीनता संघर्ष के लक्ष्य की कोई स्पष्ट रूपरेखा नही बनायी थी।

वह तुच्छ तथा सारहीन मुद्दो पर अपना समय नष्ट कर रही थी, अरविंद घोष ने कांग्रेस के उस सिद्वांत की भी कटु आलोचना की जिसके अनुसार प्रगति शनैःशनै होती है। अरविंद का कांग्रेस के प्रति एक आरोप यह भी था कि उसने भारत के करोड़ो सर्वहारा वर्ग को अपने साथ नहीं लिया है। वह एक अत्यन्त सीमित मध्यम वर्गीय संगठन बनी हुयी है।

अरविंद घोष द्वारा आंग्ल आलोचना

अरविंद घोष ने अपने लेखों में अंग्रेजी सत्ताधीशों पर सीधा और प्रभावी प्रहार किया, इस परिप्रेक्ष्य में उनके दो लक्ष्य थे– पहला देश में ब्रिटिश विरोधी भावना को पैदा करना तथा दूसरा अंग्रेजो की श्रेष्ठता के सबंध में फैली हुइ भ्रान्त धारणा को निर्मूल सिद्व करना कि अंग्रेज देवन्तुल्य हैं। उन्होनें ऐतिहासिक विश्लेषण द्वारा सिद्व किया कि ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था पश्चिम की सर्वोत्तम देन नहीं है। उन्होनें गोरो पर व्यंग करते हुए कहा था कि वे अशिष्ट और भ्रष्ट हैं, उनका शासन दोषो से भरा पड़ा है। अरविंद घोष ने उन भारतीयों का भी मजाक उड़ाया जो अंग्रेजो के दास बन गये थे।

अरविंद घोष का रचनात्मक राजनीतिक कार्यक्रम

बड़ौदा प्रवास में अरविंद घोष ने रचनात्मक राजनीतिक कार्यक्रमों पर भी चिन्तन किया। उनका राजनीतिक कार्यक्रम यह था कि भारत का लक्ष्य ब्रिटिश आधिपत्य से पूर्ण मुक्ति पाने का होना चाहिये। उन्होंने कहा कि भारत को अपनी आन्तरिक शक्ति ओर बल के असीम भण्डार का सहारा लेना चाहिये।

वैसे तो अरविंद घोष के बाल–जीवन में ही उथल–पुथल होने लगी थी, वे प्रारंभ से ही पाश्चात्य सभ्यता के समर्थक नहीं थे। लंदन–प्रवास मे वे क्रांतिकारी गतिविधियों में रूचि लेने लगे थे। अरविंद घोष की राजनीतिक गतिविधियो का एक प्रमुख पहलू जनता में प्रचार था जिसका उद्‌देश्य था सम्पूर्ण राष्ट्र के मानस को स्वातन्त्रय भावना से आप्लावित कर देना, जिसे तत्कालीन भारतीय असम्भव मानते थे। अरविंद घोष का यह सुनिश्चित मत था कि यदि अंग्रेजो के आर्थिक बन्धन को तोड़ दिया जाये, उसके समानान्तर भारतीय व्यवसाय तथा उद्योग की उन्नति की जाये तो देश की राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए चलने वाले क्रांतिकारी प्रयत्नों में अवश्य ही सफलता मिलेगी।

अरविंद घोष मातृभूमिके दासता के बन्धनों को काटने के लिए आतुर थे, वे अवसर की प्रतीक्षा में थे, तभी लार्ड कर्जन की बंगाल–विभाजन की घोषणा ने अरविंद घोष को सुअवसर प्रदान कर दिया। वे तेजी से राजनीतिक गतिविधियों मे कूद पड़े। उन्होनें पॉच वर्ष की अल्पावधि में ही भारत की राजनीतिक रूपरेखा को पूरी तरह बदल दिया। उन्होनें ऐसी घटनाओं की अटूट श्रंखला प्रारंभ कर दी, जिसके फलस्वरूप चार दशकों के अन्दर ही अन्दर भारत एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उभर कर सामने आया।

भारत के पौरूष को जाग्रत करने का प्रयत्न

अरविंद घोष ने उदारवादी नेताओं की याचना पद्वति पर कठोर प्रहार किये। उन्होनें कहा कि याचना करना, अपील करना, प्रार्थना करना जैसे साधन न केवल अपर्याप्त हैं बल्कि भारतीयो के आत्म सम्मान के विपरीत भी हैं।

उन्होनें कांग्रेस को ऐसा मार्ग और पद्वति अपनाने की सलाह दी, जिससे भारत की कुम्भकर्णी निद्रा भंग हो, और वह सचेत तथा सचेष्ट हो जाये। उन्होनें कहा हमारा वास्तविक शत्रु कोई वाह्यशक्ति नहीं हैं अपितु वह हमारी आन्तरिक कमजोरी है, जिसके कारण हम सांगठनिक दृष्टि से दुर्बल हैं। अरविंद घोष ने लेखो, भाषणों तथा सांगठनिक साधनों के माध्यमों से भारतीय पौरूष को जगाने में अहम् प्रयास किया।

श्रमजीवी वर्ग को महत्व प्रदान करना

अरविंद घोष ने जन साधारण तथा श्रमजीवी वर्ग के महत्व को अच्छी तरह से समझा, उन्होनें कहा कि राष्ट्र की शक्ति का सच्चा आधार श्रमजीवी वर्ग है, यह वर्ग चेतना तथा गतिशीलता के क्षेत्र में पीछे है, किन्तु उसके अंदर असीम सम्भावना में निहित हैजो भी इस वर्ग को समझने तथा उसकी शक्ति को जाग्रत करने में सफल होगा, वही भविष्य का मालिक होगा। अरविंद घोष बंगाल में इसलिए सफल रहे, क्योंकि वे वहाँ पर श्रमजीवी वर्ग को जगाने का महत् कार्य किया। उन्होनें श्रमजीवी वर्ग को नैतिक आधार पर मजबूत होने का उपदेश दिया।

निष्क्रिय प्रतिरोध और अरविंद घोष

अरविंद घोष ने उदारवादियों की आवेदन–निवेदन की नीति को एकदम ठुकरा दिया। उन्होनें कहा कि सांविधानिक पद्वति से देश की पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य प्राप्त करना सम्भव नही है। उन्होनें निष्क्रिय प्रतिरोध पर बल दिया।

अरविंद घोष ने स्वातन्त्रय संघर्ष हेतु संगठित निष्क्रिय प्रतिरोध को सर्वोत्तक साधन पाया। उन्होनें उसमें निम्नलिख्यात बिन्दुओं का समाविष्ट किया–

1. स्वदेशी का प्रसार तथा विदेशी वस्तु का बहिष्कार।
2. राष्ट्रीय शिक्षा का प्रसार तथा संस्थाओं घटनाओं की स्थापना।
3. सरकारी अदालतो तथा न्यायालयों का बहिष्कार।
4. सरकार से असहंयोग।
5. सामाजिक बहिष्कार का प्रयोग।

अरविंद घोष ने स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग तथा विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार पर सर्वाधिक बल दिया। अरविंद घोष ने निष्क्रिय प्रतिरोध तथा आक्रामक प्रतिरोध के बीच अन्तर को भी स्पष्ट किया। उन्होनें कहा कि शासन का संगठित प्रतिरोध या तो निष्क्रिय हो सकता है या आक्रामक। दोनों के मध्य अन्तर यह है कि जहाँ आक्रामक प्रतिरोध ऐसे कार्य करता है, जिनसे सरकार को सकारात्मक रूप में हानि पहॅुचती है वहां निष्क्रिय प्रतिरोध ऐसे काम करने का त्याग करता है, जिनसे देश का प्रशासन चलने में सहायता मिलें। निष्क्रिय प्रतिरोध भारत जैसे देशों के लिए पूरी तरह उपयुक्त है। अरविंद घोष ने कहा कि यदि मदद और मौन स्वीकृति क्रमशः सारे राष्ट्र से वापस ले ली जाये तो भारत में आंग्ल सत्ता का रहना दूभर हो जायेगा।

अरविंद घोष की राजनीतिक कार्य पद्वाति

अरविंद घोष एक विरले नेता तथा एक गंभीर सिद्वान्तवादी राजनीतिक एवं विचारक थे। उनकी राजनीति क्रिया विधि बहुत प्रभावी एवं महत्वपूर्ण थी, जिसे संक्षेप में इस प्रकार विवेचित किया जा सकता है–

1. कांग्रेस के सांविधानिक पद्वति पर प्रहार।
2. ब्रिटिश शासकों की कटु आलोचना।
3. भारत के पौरूष को जाग्रत करना।
4. गुप्त क्रांतिकारी गतिविधियों को प्रोत्साहन देना।
5. निष्क्रिय प्रतिरोध की पद्वति पर बल।
6. पूर्ण और अखण्ड स्वाधीनता का लक्ष्य।
7. भारतीय राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक धरातल तैयार करना।

अरविंद घोष की राजनीतिक पद्वति में पाण्डिचेरी के आवास काल में एक नया मोड़ आया। वे इस निष्कर्ष पर पहुॅचे थे कि भारत की स्वाधीनता और एकता प्राप्ति के अन्य साधनों का भार उन्हें अपने साथियों पर छोड़ देना चाहिये और ख़ुद को आत्म शक्ति तथा योग साधनों द्वारा इस लक्ष्य की प्राप्ति में मददगार होना चाहिये।

अरविंद घोष का राष्ट्रवाद

अरविंद घोष सक्रिय राजनीति में मुश्किल से चार–पॉच वर्ष ही रहे किन्तु केवल इतनी सी अवधि मे ही उन्होनें राष्ट्रवाद को वह स्वस्थ बल प्रदान किया जो अन्य कोई व्यक्ति प्रदान नही कर सकता, प्रारम्भ में वे उग्रराष्ट्रवाद के प्रणेता रहे, पाण्डिचेरी चले जाने के बाद उनका राष्ट्रवाद पूरी तरह आध्यात्मिक धरातल पर

स्थापित हो गया। अरविंद के समकालीन उदारवादी नेता बिना किसी संदेह के देशभक्त थे। लेकिन उनका राष्ट्रवाद उस अभिनव राष्ट्रवाद से बहुत निम्न स्तर पर था जिसका प्रसार अरविंद तथा उनके सहयोगियों ने किया। उदारपंथियों का राष्ट्रवाद एक बौद्धिक चरित्र लिए हुए था, जिसे देशभक्ति की संज्ञा देना उपयुक्त होगा, इसके अपेक्षाकृत अरविंद घोष तथा उनके सहयोगियों ने बहुत ऊँचे राष्ट्रवाद की आधारशिला रखी। देशवासियों में स्वाभिमान भरा, उनके पौरूष को जगाया, और उनके सामने भारत की आत्मा का चित्र स्पष्ट किया अरविंद घोष के राष्ट्रवादी विचार तिलक तथा लाजपतराय आदि से भी प्रभावी थे। उनका राष्ट्रवादी विचार बहुत महत्वपूर्ण था। उन्होने स्वदेश को मॉ माना। मॉ के रूप में उसकी पूजा की । अरविंद घोष ने राष्ट्रवाद को धार्मिक तथा अध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया।
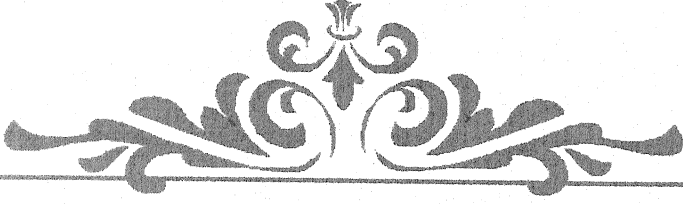
अन्ततः यह कहा जा सकता है कि अरविंद घोष देश के महान निर्माताओ में एक थे। वे महान योगी, संत एवं बौद्धिक दार्शनिक थे। वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होनें भारत के लिए पूर्ण स्वाधीनता की मांग रखी। उन्होनें आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की नींव रखी। मातृभूमि के दैवी स्वरूप को प्रस्तुत किया।

निष्कर्ष

स्वाधीनता आन्दोलन में उग्रवादी विभूतियों के योगदान का आरेख बहुत ऊॅचा रहा है, उसे नकारा नही जा सकता है, बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिन चन्द्र पाल तथा अरविंद घोष जैसे उग्रवादी नेताओं की भूमिका श्लाघ्य एवं वरेण्य रही है। उग्रवादी उदारवादियों की कार्य पद्वति को उपयुक्त नहीं मानते थे। वे उसे राजनैतिक भिक्षावृत्ति की संज्ञा प्रदान करते थे। उग्रवादियों का आवेदन–निवेदन की नीति पर विश्वास नही था, उन्होनें सांविधानिक पद्वति को

भारतीय स्वाधीनता के लिए प्रभावी नही माना। उनका मानना था कि प्रार्थना, प्रतिवेदन और प्रतिनिधिमण्डल के माध्यम से आजादी मिलने वाली नहीं है, इसके अतिरिक्त उदारवादी नेता भारत में पूर्ण स्वाधीनता या स्वराज्य की मांग भी नही रख रहे थे। इसके विपरीत उग्रवादी नेताओं में बाल गंगाधर तिलक ने देशवासियों को स्वराज्य का संदेश देते कहा था कि स्वराज्य मेरा जन्म सिद्व अधिकार है, मैं इसे लेकर ही रहूँगा। उग्रवादी नेताओं ने भारतीय आजादी के संघर्ष को चार स्तम्भो पर खड़ा कर दिया था वे स्तम्भ थे– स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्य। तिलक ने स्वराज्य का नारा देकर भारतीयों के मानस को एक नया आयाम दिया, लाला लाजपतराय तथा विपिन चन्द्र पाल ने तिलक का पूरा साथ दिया।

इस तरह उग्रवादी विचारधारा ने भारतीयों में नया जोश तथा उत्साह पैदा कर दिया। उनकी निष्क्रिय प्रतिरोध की अवधारणा ने भी अपना रंग दिखाया। तिलक ने उदारवादी नेताओं के स्वाधीनता आन्दोलन को जो सिमट कर केवल शिक्षित और मध्यम वर्ग तक रह गया था, उसे जन–आन्दोलन बनाया, स्वातन्त्र्य संघर्ष से उन्होनें जन सामान्य को जोड़ा, यह उनकी बहुत बड़ी उपलब्धि एवं उपादेयता थी, जिसे नकारा नहीं जा सकता।

सप्तम् - अध्याय

७

उग्रवाद और स्वराज्य की अवधारणा

स्वाधीनता आन्दोलन में जब उदारवादियों तथा उग्रवादियों की विचारधारा एवं कार्य पद्वति पर दृष्टि पड़ती है तो यह तथ्य उभर कर सामने आता है कि उदारवादियों ने देश के लिए औपनिवेशिक स्वशासन या ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत भारतीय हित की बात रखी। दादाभाई नौरोजी से लेकर गोपाल कृष्ण गोखले तक कइ्र उदारवादी विभूतियॉ हुई है जिनका भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में योगदान महत्वपूर्ण रहा है। उदारवादियों के हृदय में पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति गहरा लगाव था। वे मार्गदर्शन के लिए इंग्लैण्ड का मुँह ताकते थे। उदारवादी चिन्तन से प्रभावित होकर कांग्रेस जनमत को अपने साथ लेकर नहीं चल सकी। दादाभाई नौराजी उदारवादी नेताओं में प्रांरभिक नेता माने जाते थे, उन्हें स्वयं ब्रिटिश न्यायप्रियता में पूरा विश्वास था। उन्होनें स्वदेशी तथा स्वशासन की बात तो कही थी किन्तु नरमपंथी विचारधारा के समर्थक भारत के लिए पूर्ण स्वाधीनता या स्वराज्य जैसे प्रश्नों प्रभावी ढंग से नहीं रखा।

1906 से 1919 तक का युग उग्रवाद के नाम से जाना गया, इस विचारधारा के समर्थकों में लाल–बाल–पाल का विशेष रूप से नाम लिया जाता है किन्तु इसके साथ ही एक और नाम संशिलस्ट है, जिसके बिना यह अवधारणा अधूरी मानी जायेगी, वह विभूति महर्षि अरविंद घोष थे, जिन्होनें उग्रवादी विचारधारा के अग्रसारण में अहम भूमिका निभायी। बाल गंगाधर तिलक को उग्रवादी नेताओं में प्रमुख नेता माना जाता है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने बहिष्कार का मार्ग और इसका राजनीतिक स्वरूप दिखा कर स्वराज्य का मार्ग प्रश्इसत किया यह बहिष्कार आन्दोलन गांधी जी के असहयोग आन्दोलन की स्पष्टतः पूर्व सूचना थी, यदि तिलक ने स्वराज्य के प्रति लोगो में इतना उत्साह पैदा न किया होता तो संभवतः देश गांधीवादी कार्यक्रम के लिए इतना तैयार न होता।

स्वराज्य का अर्थ

स्वराज्य वैदिक परिभाषा का एक शब्द है। स्वराज्य माने प्रत्येक व्यक्ति का राज्य यानी ऐसा राज्य जो प्रत्येक को अपना लगे, अर्थात सबका राज्य। स्वराज्य का अर्थ है– अन्तिम सत्ता जनता के हाथ में हो। उत्तरदायी राजनीतिक व्यवस्था का ही दूसरा नाम स्वराज्य है। यह सामाजिक व्यवस्था का आधार है। स्वराज्य व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार है।

कांग्रेस और स्वराज्य

यद्यपि यह कहा जाता है कि दादा भाई नौरोजी तथा बदरूद्दीन तैय्यब ने स्वराज्य का प्रश्न उठाया था किन्तु वे कांग्रेस के मंच से इसे उठाने में असफल रहे। सबसे पहले तिलक ने लोगो को बहिष्कार का मार्ग और इसका राजनीतिक स्वरूप दिखाकर स्वराज्य का मार्ग प्रशस्त किया। तिलक ने स्वराज्य के प्रति लोगो में इतना उत्साह न पैदा किया होता तो भविष्य में लोग इस विचारधारा से इतना न जुड़ते। तिलक के दिमाग में दिल्ली कांग्रेस–अधिवेशन के समय से ही सत्याग्रह का विचार मंडरा रहा था।

दिसम्बर 1906 में पहली बार कलकत्ता कांग्रेस अधिवेशन में स्वराज्य का प्रश्न उभरा। तिलक ने नये दल के सिद्वान्तों पर दिये गये अपने प्रसिद्व भाषण में उन्होनें बहिष्कार के शक्तिशाली राजनीतिक अस्त्र पर बल दिया, जनता से असहयोग की पुरजोर अपील की। इस तरह से कहा जा सकता है कि 1906 से कांग्रेस के मंच से स्वराज्य का मुद्दा उठने लगा।

लोकमान्य तिलक की स्वराज्य की अवधारणा

यद्वपि कांग्रेस ने अपने कलकत्त कांग्रेस अधिवेशन में स्वराज्य को औपचारिक रूप से अपना लक्ष्य घोषित कर दिया था लेकिन इस अवधारणा को लोकप्रिय एवं प्रभावी बनाने की दृष्टि से वह उदासीन दिख रही थी, यह तिलक ही थे, जिन्होनें माण्डले जेल से लौटने पर स्वराज्य का संदेश घर–घर पहुँचाने के लिए एक प्रभावी योजना बनायी, इसके लिए उन्होनें होमरूल लीग की स्थापना की, स्वराज्य की स्पष्ट शब्दों में उन्होनें व्याख्या की। इस बात के औचित्य को सिद्व किया कि भारत को अविलम्ब स्वराज्य दिया जाना आवश्यक है।

1916 की लखनऊ कांग्रेस में तिलक ने भारतीयों को स्वराज्य का मंत्र देते हुए कहा– स्वराज्य भारतवासियों का जन्मसिद्व अधिकार है। तिलक ने स्वराज्य की मांग को नैतिक, राजनीतिक और सामाजिक सभी आधारो पर न्यायोचित ठहरांया और यह विश्वास व्यक्त किया कि स्वराज्य की प्रगति भारतीय राष्ट्रवाद की एक महान विजय होगी। तिलक ने स्वराज्य को एक राजनीतिक आवश्यकता मात्र नहीं बल्कि नैतिक जरूरत बताया और कहा कि यह तो मनुष्य के नैतिक स्वरूप की अनिवार्य आवश्यकता है। हर व्यक्ति में एक दैवीय तत्व विद्यमान रहता है, जिसकी अनुभूति के लिए आवश्यक हे कि उसे स्वधर्म के अनुसार आचरण करने की स्वतंत्रता प्राप्त हो, सच्ची स्वतंत्रता कोई स्वेच्छाचारिता नहीं है वरन् विनियमित और संयमित स्वतंत्रता है, जिसकी प्राप्ति तभी संभव है जब हमारे सामाजिक जीवन में ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना हो, जिसमें लोग धर्मानुसार चलें, साथ ही जनता की जो नैतिक मनोभावना हो। तिलक ने कहा कि इस प्रकार की उत्तरदायी राजनीतिक व्यवस्था का ही दूसरा नाम स्वराज्य है।

तिलक ने स्वराज्य को सामाजिक व्यवस्था का आधार बताया, उनका मानना था कि राष्ट्र की प्रगति का मूल स्वराज्य में ही निहित है, स्वराज्य के अभाव में राष्ट्र का बहुमुखी विकास नहीं हो सकता। स्वराज्य की धारणा को तिलक ने प्राकृतिक सिद्वान्तों पर आधारित माना, उन्होनें कहा कि स्वराज्य व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार है ओर गोरो द्वारा भारत पर अधिकार बनाये रखना एक अवांछनीय कार्य है। यह भारतीयों का पहला कर्तव्य है कि वे स्वराज्य के लिए संघर्ष का रास्ता अपनायें। जॉन स्टुअर्ट, मिल ने राष्ट्रीयता की जो परिभाषा दी थी, तिलक उससे सहमत थे।

1919 तथा 1920 में उन्होनें विल्सन की आत्मनिर्णय की धारणा को स्वीकार करते हुए भारत में इसके व्यावहारिक प्रयोग की मांग की थी, वस्तुतः तिलक का राष्ट्रवादी दर्शन आत्मा की सर्वोच्चता के वेदान्तिक आदर्श और मैजिनी, वर्क, मिल तथा विल्सन की धारणाओं का समन्वय था, जिसे तिलक ने स्वराज्य का नाम दिया। 1916 के पूर्व तक स्वराज्य से तिलक का अर्थ था –देश के लिए पूर्ण स्वाधीनता की मांग करना, जिसमें ब्रिटिश सम्राट के लिए कोई स्थान नहीं था, किन्तु 1916 में तिलक ने स्वराज्य सम्बन्धी अपनी विचारधारा को उस समय की परिस्थितियों में अधिक समयानुकूल और व्यवहारिक बना लिया, होमरूल आन्दोलन के अन्तर्गत 31 मई 1916 को अहमद नगर में स्वराज्य पर अपने पहले भाषण में तिलक ने कहा– स्वराज्य से अभिप्राय केवल यह है कि भारत के आन्तरिक मामलों का संचालन और प्रबन्ध भारतीयों के हाथ में हो। हम ब्रिटेन के राजा सम्राट को बनाये रखने में विश्वास करते हैं।

उल्लेखनीय है कि तिलक ने अपनी पूर्व धारणा अर्थात पूर्ण स्वाधीनता को ध्यान मे रखते हुए ब्रिटिश साम्राज्य के अर्न्तगत स्वराज्य का व्यवहारिक सुझाव दिया था। यह पूर्ण स्वाधीनता को दिशा में उनका पहला महत्वपूर्ण कदम था। उनके द्वारा इस स्थिति को अपनाये जाने का कारण यह भी था कि स्वराज्य की मांग को राजद्रोह से अलग किया जा सके, और देश की जनता को स्वराज्य के लिए संगठित किया जा सके। तिलक जानते थे कि स्वराज्य का संदेश प्रसारितत करने के लिए उनका जेल से बाहर रहना आवश्यक था, जिससे वे जनता का जागरूक, संगठित और स्वतंत्रता–संघर्ष के लिए तैयार कर सकें। उनका आदर्श तो भारत के लिए संपूर्ण अर्थो में पूर्ण स्वाधीनता ही था। तिलक स्वराजय के साथ अपने देश के लिए ऐसी शासन व्यवस्था के समर्थक थे, जिसमें शासन के सभी अधिकारी और कर्मचारी जनता के प्रति सचेत रहें, तथा कार्यपालिका के अधिकारी तथा कर्मचारी स्वंय को जनता के प्रति उत्तरदायी समझें। तिलक का विश्वास था कि राज्य का अस्तित्व जनता के कल्याण और सुख के लिए होता है। इस अवसर पर स्वराज्य का अर्थ था अन्तिम सत्ता जनता के हाथ में हो। इसी आधार पर उन्होनें कहा था कि भारतीय रियासतो में भारतीय शासक होते हुए भी स्वराज्य नहीं है।

तिलक भारतीय शासन प्रणाली में मूलभूत परिवर्तन चाहते थे। इस सम्बन्ध में उनके जीवनी लेखक पर्वते ने कहा कि तिलक के नाम के साथ जो विविध सम्मानित सम्बोधन जोड़े जाते हैं, उनमें लोक तांत्रिक स्वराज्य के प्रतिपादक अवश्य ही जुड़ जाना चाहिये। उन्होनें आगे कहा कि यह स्पष्ट है स्वराज्य की तिलक की धारणा मुख्यतया शासन चलाने वाले व्यक्तियों से नहीं वरन शासन के मूल प्रयोजनों से
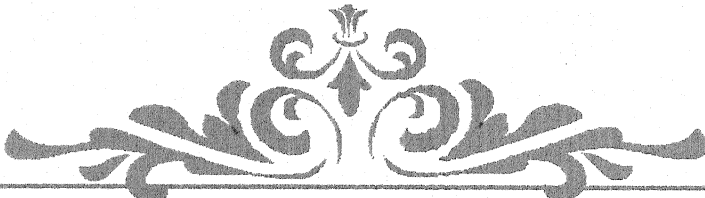
अधिक सम्बन्धित है। तिलक ने स्वराज्य की धारणा को इतने स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त किया कि उसे समझने में कोई संदेह नही रह जाता। वास्तव में तिलक के हृदय में जो दर्द था, वह फिरोशाह मेहता तथा बनर्जी आदि नेताओं में नहीं था ये नेता स्वराज्य का उल्लेख तो करते थे किन्तु शायद उन्होनें दासता के अपमान को तिलक की सी गहराई से महसूस नही किया था।

तिलक ने स्वराज्य की धारणा में जिस प्रकार उत्तरदायी सरकार की परिकल्पना की थी, उससे स्पष्ट है कि वे लोकतांत्रिक स्वराज्य के हामी थे। तिलक भारतीय स्वराज्य को लोकतांत्रिक स्वराज्य के रूप में देखते थे और भारतीय स्वराज्य के युगद्रष्टा की तरह उनकी यह धारणा बहुत अमूल्य थी। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि यह लोकतांत्रिक स्वराज्य केवल जनजाग्रति, जनता की आत्मशक्ति ओर उसके आत्म बलिदान से ही निर्मित हो सकेगा। वे कभी भी यह नही चाहते थे कि आतंकवादी या सेना के नेताबिना जनसहयोग एवं समर्थन प्राप्त किये बिना अकेले ही भारत में स्थापित सरकार को उखाड़ फेकेंगें। जन आन्दोलनों द्वारा अपने अधिकारों को बराबर जनता ओर उनकी मांग करने के लिए शक्ति का निर्माण करना तथा ऐसे आन्दोलनों द्वारा जनता की शिकायते प्रस्तुत करना तिलक का स्थायी कार्यक्रम था। इस तरह से कहा जा सकता है कि तिलक ने स्वराज्य की बहुत मौलिक अवधारणा प्रस्तुत की।

निष्कर्ष

वैसे तो स्वराज्य की अवधारणा के सम्बन्ध के वैसे इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं कि उदारपंथियों ने भी इसके सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये, दादा भाई नौराजी, फिरोज शाह मेहता, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी तथा बदरूद्दीन जैसे नरमपंथियों ने उदारवादी विचारधारा में स्वराज्य का उल्लेख किया, उनकी स्वराज्य की अवधारणा अधूरी और अस्पष्ट थी। इसलिये स्वराज्य के सम्बन्धम में उनके अनुदाय को महत्व नही मिला। उग्रवादी नेताओं ने स्वराज्य की विचारधारा को अपनी राजनीतिक पद्वति में पूरी तरजीह दी, इसके अतिरिक्त उन्होनें इस अवधारणा का सरलाश्य कर सीधे इसे जनता से जोड़ा। आजादी की मॉग स्वराज्य पर आधारित की। लोकमान्य बाल गंगाधर ने पूर्ण स्वाधीनता की मांग का दूसरा नाम स्वराज्य बतलाया उन्हें स्वराज्य का मंचदाता कहा गया। कुछ क्षेत्रों में यह कहा गया कि तिलक ने 1916 में स्वराज्य की धारणा में थोड़ा सा परिवर्तन कर दिया और ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति नरम रूख रखा। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि उन्होनें 1916 में स्वराज्य के सम्बन्ध में अपने जो विचार दिये, वे देश, काल और परिस्थितियों के अनुकूल थे उससे यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता है। कि उन्होनें अपनी पूर्व धारणा में कोई बदलाव किया था। वे तब भी पूर्ण स्वाधीनता की मॉंग पर डटे हुए थे।

इस तरह से यह कहा जा सकता है कि उग्रवादियों ने स्वाधीनता आन्दोलन में जिन चार स्तम्भो का उल्लेख किया था उनमें चौथा सूत्रीय कार्यक्रम स्वराज्य था। उन्होनें स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा एवं स्वराज्य नामक अपना चतुष्पदीय राजनीतिक कार्यक्रम रखा था, इसके साथ ही तिलक ने देशवासियों को स्वराज्य का संदेश देते हुए यह मंत्र बीज दिया था कि स्वराज्य आपका जन्मसिद्व अधिकार है। इससे पूरे देश में नवोन्मेष की भावना जाग्रत हुयी थी। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि उग्रवादियों की स्वराज्य का अवधारणा को लोकाभिमुख करने में अह्म योगदान था।

अष्टम् - अध्याय

उदारवादियों और उग्रवादियों के अनुदाय का तुलनात्मक मूल्यांकन

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में 1885 से 1919 तक का काल अपना एक अलग महत्व रखता है, साढ़े तीन दशकों का संघर्ष आधार भूमि का संघर्ष कहलाता है, यह वह समय था जब स्वाधीनता आन्दोलन से भारत का आबाल वृद्ध नही जुड़ा था, उदारपंथी नेताओं का आन्दोलन सांविधानिक साधनों पर अवलम्बित था किन्तु इस करने वाले नामचीन लोगो में से जाने जाते थे। इन दोनों विचारधाराओं की अगुवाई कर नेताले नेताओं के योगदान को अलग–अलग रेखांकित करने पर ही अनुदाय का मूल्यांकन हो पायेगा।

उदारवादियों का अनुदाय

1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थाप्ना हुई जिससे स्वाधीनता आन्दोलन को एक बैनर प्राप्त हो गया। इस बैनर को विर्निमित करने में दादाभाई नौरोजी तथा सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जैसे उदारपंथी नेताओं की भी अहम भूमिका रही, उसके बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर 1905 तक हयूम, वेडरबर्न बनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले, महादेव गोविंद रानाडे तथा श्री निवास शास्त्री जैसे उदारवादी नेताओं का प्रभुत्व रहा, इन्होनें उदारवादी चिन्तन का विकास किया तथा देश के सामाजिक राजनीतिक जीवन में विभिन्न रूपों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारतीय पुनजार्गरण मे इनका अच्छा अनुदाय रहा। उदार राष्ट्रवादी, जिन्हें शुरूआती काले के राष्ट्रवादी के नाम से जाना

गया, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रांतिपरक रूप देने के समर्थक नहीं थे, वे यह मानते थे कि भारत में राष्ट्रीय चेतना के उदय में गोरी सरकार का हाथ है।[1]

उदारवादियों का यह मानना था कि ब्रिटिश शासन ने ही भारत के सामाजिक जीवन को अपनी संस्कृति का संश्रय देकर उसमें लोकतंत्र तथा स्वतंत्रता की भावना पैदा की है, इसलिए यह उचित प्रतीत होता है कि देश में राजनीतिक तथा प्रशासनिक क्षेत्र में स्वाभाविक रूप से धीरे–धीरे सुधार लाने के प्रयास किये जायें। उदारवादियों ने क्रांतिकारी रूप में नही अपितु क्रमिक सुधारों में आस्था प्रकट की। कांग्रेस के पहले अधिवेशन में ब्रिटिश शासन के प्रति पूरा सम्मान प्रदर्शित किया गया। उदारवादियों के वास्तविक मन्तव्यों का मूल्यांकन करने के लिए समाचीन होगा कि उनकी विषय–वस्तु के अधोलिखित बिन्दुओं पर दृष्टिपात किया जाये।

साम्राज्यवाद के आर्थिक विवेचन पर बल

उस समय उदारवादियों का यह सबसे महत्वपूर्ण कार्य माना गया कि उन्होनें साम्राज्यवाद का आर्थिक विवेचन किया। वे यह जानते थे कि ब्रिटिश आर्थिक साम्राज्यवाद में निहि उद्देश्य भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के अधीन रखना है। इस काल के उदारवादी नेताओं ने भारत की बढ़ती हुई गरीबी पर अपनी चिन्ता को अपने लेखों तथा भाषणों के माध्यम से व्यक्त की थी ,जिसमें से पहला नाम दादा भाई का लिया जा सकता है। उन्होनें कहा था कि भारतवासी मात्र परजीवी दास

---

[1] डा0 अमरेश्वर अवस्थी...पृ0सं0 115

थे। वे अमीरीकी गलामों से भी बदतर थे क्योंकि कम से कम उनकी देख–रेख उन अमीरो के मालिकों द्वारा की जाती थी, जिनकी वे सम्पत्ति थे।[1]

प्रशासनिक सुधार पर बल

उदारवादियों ने ब्रिटिश शासन के कठोर कदमों की समय–समय पर आलोचना की, प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा उदासीनता के विरूद्व आवाज उठाई, उनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य प्रशासनिक सुधार आन्दोलन था, जिसके आधार पर वे प्रशासनिक सेवा के उच्च पदों का भारतीयकरण चाहते थे। यह मॉग उन्होने आर्थिक, राजनीतिक तथा नैतिक आधार पर प्रस्तुत की थी, उदारवादियों की एक दूरदर्शी मॉग यह भी थी कि न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक कर दिया जाये ताकि जनता को न्याय मिल सके, वह सुरक्षित हो सके।[1]

नागरिक अधिकारों की सुरक्षा पर बल

उदारवादी नेता राजनीतिक दृष्टिकोण से प्रतिभा सम्पन्न थे। उनके मन में प्रारम्भ से ही नागरिक अधिकारों की सुरक्षा का प्रश्न था, यही कारण था कि ब्रिटिश शासन ने जब भी नागरिक–अधिकारों को सीमित और दमित करने का प्रयास किया, तब–तब उदारवादी नेताओं ने नागरिक अधिकारों को बचाव किया एवं सरकार पर ऐसा न करने का दबाव बनाया। सरकार ने जब भी भाषण तथा प्रेस की स्वतंत्रता को कम करने तथा पुलिस के अधिकारों को बढ़ाने की कवायद की, उस समय उदारवादियों ने इसका विरोध किया, साथ ही देशव्यापी आन्दोलन भी हुए।[2]

---

[1] सूरजनारायण मुंशी, स्वतन्त्रता के मार्गदर्शक दादाभाई नौरोजी, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, 1996 पृ0सं0 38, 39

[2] वही, पृष्ठ संख्या ....पृ0सं0 40

भारतीय एकता को महत्व

प्रारंभिक नेताओं में खासकर उदारपंथी नेताओं ने इस बात पर अधिक बात दिया कि राष्ट्रीय आन्दोलन की मजबूती के लिए राष्ट्रीय एकता बहुत आवश्यक है।

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने इस दृष्टि से इटालियन एकता के महान शिल्पी मैजिनी के प्रति देशवासियों का ध्यान 1876 में आकर्षित किया था। दादाभाई नौरोजी तथा अन्य नेताओं ने भी विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच खाई को पाटने तथा देश को संगठित करने के लिए अह्म सहयोग प्रदान किया था। उदारपंथियों के प्रयासों के परिणामस्वरूप शिक्षित भारतीयों में राष्ट्रीय एकता के विचार का विकास हुआ थां 1905 में गोखले ने इस मुद्दे पर संतोष व्यक्त किया था, देश की एकता में बाधक तमाम मुश्किल कम हुई है और सर्वत्र राष्ट्रीय चेतना के स्वर प्रस्फुटित हो रहे हैं।

सांविधानिक सुधारो तथा स्वशासन की माँग पर बल

उदारवादी नेता प्रारम्भ में यह लक्ष्य लेकर आगे बढ़ रहे थे कि क्रमिक सुधारों की मांग करते हुए भारत को अन्ततः एक स्वशासी सरकार की मांग की ओर अग्रसर होना चाहिये। वे नेता इस तथ्य से परिचित थे कि परिस्थितियाँ केवल इतनी ही अनुमति दे रहीं हैं कि एक–एक कर कदम उठायें जायें।

उस दौर के नेताओं ने विधायक कौसिंलो, अथवा विधान परिषदों के अधिकारों को व्यापक बनाने तथा सदस्यों के अधिकारों को व्यापक बनाने तथा सदस्यों के अधिकारों में वृद्वि करने की मॉग की ताकि वे प्रश्न पूॅछ सके, बजट पर बहस कर सके और प्रशासन की आलोचना भी कर सकें। उदारवादियों के प्रयासों का ही प्रतिफल थाा 1892 का भारतीय विधान परिषद विधेयक का पारित होना।

जनता के कदम

उस समय के उदारपंथी नेता जनमत को अपने साथ लेकर नहीं चल सके, वे जनता के बीच विश्वास भी पैदा नहीं कर सके, सामाजिक आधार की यह संकीर्ण सोच उदारवादी नेताओं की एक प्रमुख कमी रही। उस काल के नेता इस भ्रम में रहे कि भारतीय जनता में वह क्षमता नही है, जिसके आधार पर वह आधुनिक राजनीति में भाग ले सके, साथ ही साम्राज्यवादी सत्ता के विरूद्व सफल संघर्ष कर सके। यह नरमपंथी नेताओं की एकांगी सोच थी। उन्होनें यह नहीं सोचा कि केवल जनता में ही वीरता ओर बलिदान के भाव निहित होते हैं। वही उन्हें राजनीतिक माँगो को आगे बढ़ाने की शक्ति प्रदान कर सकती थी।[1]

वे यह मानकर चल रहे थे कि साम्राज्य के विरूद्व एक जुझारू जन संघर्ष तभी संभव है जब देश के विभिन्न वर्ग के लोग एक राष्ट्र के रूप में संश्लिष्ट हो जाये। यह एक विचारणीय प्रश्न रहा कि राष्ट्रीयता के प्रारंभिक दौर में जनता को एक निष्क्रिय भूमिका अदा करने का दायित्व दिया गया। संभव है कि उदारवादी नेताओं की यह सोच रही होगी कि जनता में उस समय अलग अलग वर्ग थे, मतभेद गहरे तथा व्यापक थे इसलिए उन्होनें जनसंघर्ष को संभव न माना हो फिर भी उदारवादी नेता यदि परिवेश बनाते तो मतभेद हवा हो जाते।

---

[1] डॉ0 अमरेश्वर अवस्थी ....पृ0सं0 115

उग्रवादियों का अनुदाय

उग्रवादी नेताओं में बाल गंगाधर तिलक लाला लाजपत राय, विपिन चन्द्र पाल तथा अरविंद घोष का नाम उल्लेखनीय है, इन नेताओं ने तत्कालीन भारतीय राजनीति को अपनी प्रभावी कार्यपद्वति से नया आयाम प्रदान किया, आवेदन–निवेदन की नीति के स्थान पर उग्रवादियो ने स्वदेशी बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा तथा स्वराज्य को अपनाया। वे ब्रिट्रिश साम्राज्यवाद का सक्रिय विरोध करने पर बल देते थे। उन्होनें स्वावलम्बन, संगठन तथा संघर्ष की आवश्यकता पर सबसे अधिक बल दिया।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने कहा था कि अपने तरीकों तथा पद्वति से उनके दल को उग्रवादी नाम मिला था, उग्रवादियों का उद्देश्य भी नरमपंथियों जैसा था, वे भी ब्रिटिश साम्राज्य को समूल उखाड़ने के पक्ष में नही थे, उनकी सोच थी कि नौकरशाही पर इतना दबाव बनाया जाये कि वे यह अनुभव करें कि सब कुछ ठीक नही चल रहा है। उग्रवाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति एक क्रांतिकारी भावना का प्रतीक था, साथ ही वह भारतीय राष्ट्रीयता की उदारवादी प्रवृत्ति तथा सुधारवादी नेताओं के विरूद्व भी विद्रोह का निनाद था।

उग्रवादियों का राजनीतिक आन्दोलन अधोलिखित मान्यताओं पर आधारित था, जिनके आधार पर उग्रवादियों के अनुदाय को आंका जा सकता है–

अवज्ञा की नीति का प्रचार

उग्रवादियों ने अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अवज्ञा की नीति का प्रचार किया। एक और प्रमुख उग्रवादी नेता विपिन चन्द्रपाल का विचार था कि यदि सरकार स्वतः ही

स्वराज्य का दान करती है तो मै उसे धन्यवाद दूँगा लेकिन मैं उसे स्वीकार नहीं करूँगा जब तक कि मै स्वंय उसे प्राप्त न कर लूँ। उग्रवादियों का संगठन शक्ति और आत्मनिर्भरता पर बल था। वे जनता को जगाकर तीव्र राजनीतिक आन्दोलन चलाकर ब्रिटिश सत्ता पर प्रभावी दबाव बनाकर अपना उद्देश्य प्राप्त करना चाहते थे। तिलक ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सहयोग का निषेध करते हुए घोषणा की थी कि विदेशी शासन एक अभिशाप है, भारतीय जनता उसका सहयोग न करे।

सक्रिय विरोध और सत्याग्रह पर बल

उग्रवादियों का विश्वास सक्रिय विरोध और सत्याग्रह पर बल था। लाला जी ने सक्रिंय विरोध के दो लक्षण बताये थे—पहला—भारतीयो के हृदय से ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति सम्पन्नता तथा परोपकार की भावना को पूरी तरह खत्म कर दिया जाये, दूसरा—देशवासियों के मन में स्वतंत्रता के लिए ललक तथा कष्ट सहिस्णु बनने की भावना को पैदा कर दिया जाये। उग्रवादियों ने इसलिए देश के सामने सक्रिय प्रतिरोध का कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उन्होनें अपने कार्यक्रम में स्वदेशी बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा को शामिल किया।

राष्ट्रीय शिक्षा का समर्थन

उग्रवादियों के कार्यक्रम की एक महत्वपूर्ण विशेषता राष्ट्रीय शिक्षा थी, उग्रवादियों ने इसे कई रूपों में विवेचित किया था। पाल का विचार था कि राष्ट्रीय शिक्षा वह शिक्षा है जो राष्ट्रीय रूपरेखाओं के आधार पर चलायी जाये जो राष्ट्र के प्रतिनिधियों के द्वारा नियंत्रित तथा इसकी प्राप्ति का उद्देश्य राष्ट्रीय भाग्य हो। अरविंद घोष का मत था कि राष्ट्रीय शिक्षा वह है जो हमें अतीत का पाठ पढ़ाये तथा वर्तमान का पूरी तरह सदुपयोग करने की शिक्षा दे, जिससे एक महान राष्ट्र का निर्माण किया जा सके।

बहिष्कार तथा स्वदेशी आन्दोलन पर जोर

बहिष्कार स्वदेशी आन्दोलन तथा राष्ट्रीय शिक्षण ब्रिटिश शासन के प्रति निर्भीक विरोध के साक्षी थें उग्रवाद की एक महत्वपूर्ण प्रवृति यह थी कि वह धार्मिक भावना के साथ संशिलष्ट थी। अरविंद घोष ने घोषणा की थी कि राष्ट्रीयता एक धर्म है और वह ईश्वर के पास से आती है। उग्रवादियो के मस्तिष्क में हिन्दू धर्म के पुनरूत्थान की गहरी छाप थी।

सामूहिक स्वतंत्रता पर बल

उग्रवादी चिन्तन का एक महत्वपूर्ण पहलू राष्ट्र की सामूहिक स्वतंत्रता पर बल देना था। वे इस सामूहिक स्वतंत्रता को वैयक्तिक स्वतंत्रता का विरोधी चाहे न मानते हो पर उससे अलग अवश्य मानते थें, इस दृष्टिकोण के आधार पर उग्रवादियों का राजनीतिक दर्शन उन उदारवादियों से भिन्न था जो सदैव व्यक्ति के नागरिक और अन्य अधिकारों पर बल देते थे।

इस तरह से अन्ततः यह कहा जा सकता है कि 1906 से 1919 तक तत्कालीन राजनीति में उग्रवादियों का केन्द्रीय महत्व रहा।

उग्रवादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्य क्षेत्र को व्यापक बनाया, उनका राजनीतिक कार्यक्रम प्रभावी था, उन्होनें आन्दोलन को कुछ सीमित शिक्षित समुदाय या वर्ग से निकालकर उसे जन–साधारण से जोड़ने का अहम प्रयास किया। देश को स्वराज्य का संदेश दिया। राष्ट्रीय चेतना का लोक प्रसार करना उनका सबसे बड़ा अनुदाय था।

तुलनात्मक मूल्यॉकन

प्रारंभिक दौर के राष्ट्रवादियों अर्थात उदारवादी नेताओं को व्यवहारिक धरातल पर अधिक सफलता नहीं मिली, ब्रिटिश सरकार ने उनकी मांगो पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, गोरी सरकार ने उदारवादी नेताओं के साथ वांछित व्यवहार नहीं किया, उनकी राजनीति का मजाक बनाया। लाला लाजपत राय ने इस सबंध में अपने विचार रखते हुए कहा था कि अपनी शिकायतों का निस्तारण कराने तथा सुविधायें पाने के लिए उदारवादियों 20 वर्षो से अधिक समय तक कमोवेश जो व्यर्थ का आन्दोलन चलाया, उसमें उन्हें रोटियों के स्थान पर पत्थर मिले। उस दौर के नेता जनता को अपने पक्ष में करने में सफल नही रहे। आलोचको ने उनकी राजनीति को लंगड़ी और आधेमन की संज्ञा प्रदान की। उदारवादियों की अपीलों का जनता पर प्रभावी असर नहीं रहा। उनके कार्यक्रम तथा विचारधाराओं में कई कमियाँ परिलक्षित हुईं। इन सबके मूल में एक प्रमुख कारण था, उन्होनें भारत तथा ब्रिट्रेन के हितों को परस्पर एक मानने की भूल की। इन सब कमियों के बावजूद उदारवादी आन्दोलन को महत्वपूर्ण कहा जा सकता है क्योंकि उन्होनें आन्दोलन को एक बैनर प्रदान किया, जिससे शिक्षित भारतीय प्रभावित हुए और देश के मामले में रूचि लेने लगे। उन्होनें सरकारी कार्यो की तल्टव आलोचना नहीं की, किन्तु शासन की त्रुटियों को उजागर तो किया। उन्होनें सभी महत्वपूर्ण आर्थिक, प्रश्नों को भारत की स्वाधीनता की समस्या के साथ जोड़ा, 1885 से 1905 तक का समय आन्दोलन के लिए आधारभूमि का कार्य किया। उन्होनें देशवासियों को जागृत करने की अहम् कोशिश की कि वे प्रान्तीय धरातलों से ऊपर उठकर सोचें।

1906 से 1919 तक की भारतीय राजनीति उग्रवादी राजनीति के युग से जानी गयी। उस काल के उग्रवादी नेताओं में लाल–बाल–पाल तथा अरविंद घोष को प्रमुख माना गया। उग्रवादियों के राजनीतिक कार्यक्रम में सबसे महत्वपूर्ण बात स्वराज्य की अवधारणा की थी, इसके पूर्व तक की राजनीति में अर्थात उदारवादियो ने पूर्ण स्वाधीनता की मांग नहीं की थी। इसके बदले उग्रवादियों ने देश को स्वराज्य का नारा देते हुए कहा कि स्वराज्य आपका जन्मसिद्व अधिकार है, इससे देशवासियों को एक नया सम्बल प्राप्त हुआ, इसके साथ उग्रवादियों ने राष्ट्रीय शिक्षा के प्रसार का जो देशव्यापी अभियान चलाया, वह अपने आप में उनका एक बहुत प्रभावी योगदान था, जिसे नकारा नहीं जा सकता।

उदारवादियों की तुलना मे उग्रवादी नेता अधिक निर्भीक एवं जुझारू थे । अरविंद घोष ने भारतीय राष्ट्रवाद को जो आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया; वह उनका अपने आप में मौलिक योगदान था। उग्रवादी विचार धारा में राजनीति सिद्वान्तों का समावेश प्रभावी एवं यथेष्ट था किन्तु उदारवादी चिन्तन में सर्वाधिक वरेण्य तत्व आर्थि तत्व था। दादा भाई नौरोजी महादेव गोविंद रानाडे तथा सुरेन्द्र नाथ बनर्जी का आर्थिक विवेचन, आर्थिक आन्दोलन तत्कालीन उदारवादी राजनीति की एक बहुत देन थी, इसके साथ ही साथ उदारवादी नेताओं का सामाजिक आन्दोलन में अग्रणी योगदान था। सामाजिक सुधार के क्षेत्र में उदारवादी नेता उग्रवादी नेताओ से आगे थे।

निष्कर्ष

उदारवादी तथा उग्रवादी अनुदाय के तुलनात्मक मूल्यांकन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उदारवादी तथा उग्रवादी दोनो ही विचारधाराओं के अगुवाकारों का अपने–अपने क्षेत्र में योगदान प्रभावपूर्ण रहा, उदारवादी नेताओं ने जहॉ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए आधारभूमि का कार्य किया, वही उग्रवादी नेताओ ने आन्दोलन को स्वराज्य का सहारा देकर उसे प्रभावी तथा जनवादी बनाया। स्वराज्य का लोक बोध कराना उग्रवादियों की एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी, जिसे विस्मृत नहीं किया जा सकता।

दोनो ही प्रकार के आन्दोलनकारियों की विचारधारा एवं कार्य पद्वति में जिन साधनों का उल्लेख है, उनमें आन्दोलन के अग्रसारण की क्षमता तो अवश्य थी किन्तु उग्रवादियों की विचारधारा अधिक कारगर सिद्व हुई। उन्होनें उसमें स्वदेशी बहिष्कार राष्ट्रीय शिक्षा तथा स्वराज्य का समावेश कर उसे जनता से जोड़ने का अधिक प्रयास किया, यही उग्रवादी आन्दोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जाती है।

उग्रवादी नेताओं ने उदारवादी राजनीति को राजनीतिक भिक्षावृत्ति तो कहा किन्तु उसे काल की राजनीति में देश काल और परिस्थिति की बेड़ियॉ पड़ी हुई थी। उदारवादी आन्दोलनकारी इससे अधिक कुछ कर भी नही सकते थे, क्योकि समय इससे अधिक उन्हें कुछ भी करने की अनुमति नहीं दे रहा था। इस तरह से निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि उदारवादी तथा उग्रवादी दोनों ही प्रकार विचारधाराओं ने अपने–अपने ढंग से राष्ट्र की सेवा में हाथ बटाया, उसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने में मदद प्रदान की।

नवम् - अध्याय

९

उपसंहार

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के पूर्व भारत में सांगठनिक चेतना ने कहीं न कहीं एक पूर्व पीठिका तैयार करने में अहम भूमिका अवश्य ही निभायी थी। इस सातत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि कांग्रेस के जन्म के मूल में कांग्रेस की पूर्ववर्ती संगठनों की प्रभावी पहल रही। यह कहना भी पूरी तरह से सच नही है कि कांग्रेस के जन्म के मूल में गोरों की समझी–बूझी चाल थी। उन्होनें इसे अपने लिए एक अभयदीप के रूप में ही संगठित किया था। कांग्रेस की स्थापना के पूर्व भारत में सांगठनिक जाग्रति उत्पन्न हो चुकी थी। उसी जागरण की जमीन में कांग्रेस का जन्म हुआ था। इसमें सत्यांश हो सकता है कि कांग्रेस के अस्तित्व में आने में कहीं न कहीं गोरो का कुछ सहभाग रहा हो। यह तो हो सकता है कि वायसराय डफरिन और अंग्रेज अधिकारी ए0ओ0ह्यूम का काग्रेस का समर्थन रहा हो किन्तु यह कहना पूरी तरह समाचीन नही है कि क्रांग्रेस ब्रिटिश सरकार की देन थी।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि कांग्रेस तत्कालीन उदारवादी आन्दोलनकारियों के लिए एक महत्वपूर्ण बैनर सिद्व हुआ था । कांग्रेस के जन्म तथा इसके माध्यम से आन्दोलन के अग्रसारण में दादाभाई नौरोजी, बनर्जी बन्धुओं, महादेव गोविंद रानाडे तथा गोपाल कृष्ण गोखले के अनुदाय को विस्मृत नही किया जा सकता।

1885 से 1918 तक का युग उदारवादी युग के नाम से जाना जाता है। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद कांग्रेस पर नरमपंथी

नेताओं का प्रभाव रहा। इस काल के नेता और दादाभाई नौराजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, महादेव गोविंद रानाडे, फिरोजशाह मेहता एवं गोपाल कृष्ण गोखले के नाम रूप विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भारत के उदारवाद को पश्चिमी प्रसूत कहा जाता है, जिस समय भारत में उदारवाद का जन्म हुआ, उस समय व्यक्ति विवेक से नहीं अपितु शास्त्र–अनुगामी था। भारतीयों को पराधीन काल में संसदीय प्रमुसत्ता, विधि के समक्ष समानता तथा नागरिक अधिकारों की अवधारणा पश्चिम से प्राप्त हुई। इसी आधार पर भारत में उदारवाद के जन्म की पूर्व पीठिका बनी। उदारवादियों में प्रथमतः राजा राममोहन राय ने विवेकवाद का पक्षपोषण किया। उन्होनें उदारवाद को साध्य तथा साधन दोनो ही रूपो में माना। उदारवादियों की विचारधारा कार्यपद्वति तथा साधन तत्कालीन परिस्थिति जन्य थे। भारतीय उदारवादी क्रमिक सुधारों पर आस्था रखते थे। वे भारत में स्वशासन के पक्षधर थे। भारतीय उदारवादियों ने भारतीय जनता की मांग को प्रार्थना–पत्रों, स्मृतिपत्रों सम्मेलनों तथा प्रस्तावों के माध्यम से इंगलैण्ड तक में रखा । उदारवादियों ने ही आर्थिक क्षेत्र में हो रहे भारतीय शोषण को प्रभावी ढंग से आंग्ल शासन के समक्ष रखा। उग्रवादियों ने भले ही उनकी नीतियों को राजनीतिक भिक्षावृत्ति का नाम दिया हो किन्तु उनके अनुदाय को नकारा नहीं जा सकता है।

उदारवादियों ने भारत में राष्ट्रवाद को उद्भूत करने में प्रभावी पहल की। दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, महादेव गोविंद रानाडे तथा गोपाल कृष्ण गोखले जैसे प्रमुख उदारवादी नेता भारत से लेकर ब्रिटेन तक भारतीय आवाज

को उठाया, अपनी विद्वता से गोरों को प्रभावित भी किया, जिसके चलते गोरी सरकार ने भारत में सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में कुछ सुधार भी किये। 1889 से 1905 तक का युग उदापंथी युग के नाम से जाना जाता है किन्तु इस युग के नेताओं मे दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, महादेव गोविंद रानाडे, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी तथा गोखले जैसे कई उदारवादी विभूतियॉ हुई, जिन्होनें कांग्रेस के जन्म से पूर्व से लेकर उग्रवाद के जन्म के पूर्व तक स्वाधीनता आन्दोलन में यथाशाक्य सहयोग प्रदान किया। दादाभाई नौराजी भारतीय राजनीति के पितामह थे। उन्होने भारत से लेकर भारतेत्तर राष्ट्रीय आन्दोलन को धार में कोई कोताही नहीं की। उनका अनुदाय सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहा। तत्पश्चात सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जैसे प्रतिभाशाली राष्ट्रधर्मी पुरोधा ने भी स्वातन्त्रय संघर्ष के अगसारण में अगुवा रहे। वे अपने जीवन लगभग आठ दशको में लगभग छः दशक तक राष्ट्रसेवी रहे। उनकी प्रभावी भूमिका के कारण ही उनको भारत का ग्लैडस्टन कहा गया। उनकी तुलना सिसरो तथा वर्क से की गयी।

महादेव गोविन्द रानाडे की भी उदारवादी आन्दोलन में प्रभावी पहल रही। इनके योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। रानाडे, उदारवादी आन्दोलन के एक सशक्त स्तम्भ कहे जाने वाले गोपाल कृष्ण गोखले के गुरू थे। वैसे तो गोखले फिरोजशाह मेहता से भी बहुत प्रभावित थे किन्तु रानाडे के सानिध्य–सलिल में अवगाहन करने से उनके जीवन को नवोन्मेष प्राप्त हुआ।

गोपाल कृष्ण गोखले उदारवादी आन्दोलन के शीर्ष सूरमा थे। उन्हें भले ही प्रतिक्रियावादियों ने एक दुर्बल ह्रदय उदारवादी तथा छिपा हुआ राजद्रोही कहा हो, किन्तु वे इन सब आलोचनाओं से ऊपर उठकर एक सच्चे देशभक्त थे, वे देश के

लिए जिये और देश के लिए मरे भले ही उनकी त्रयी नीति की आलोचना की गयी हो किन्तु देश, काल एवं परिस्थितियों की मांग के मुताबिक उनके उस काल कें निर्णय सर्वथा उचित थे। उग्रवादियों ने उनकी नीति को राजनीतिक भिक्षावृत्ति की नीति कहा किन्तु यदि समय के तराजू पर उनके तेवरों को तौला जाय तो वे एक दम खरे थे। समय की कसौटी पर कसने से भी खरे उतर रहे थे। उनका योगदान समाचीन एवं सराहनीय था। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि स्वाधीनता आन्दोलन को आगे बढ़ाने में उदारवादी नेताओं की प्रमुख भूमिका रही ।

उग्रवादी आन्दोलन मितवादी आन्दोलन से भिन्न एक अलग विचारधारा थी । इस विचारधारा के अग्रसारण में लाल–बाल–पाल– तथा अरविंद घोष का प्रमुख योगदान था। यह विचारधारा को मानने वालों का उदारवादी कार्य पद्वति में विश्वास नहीं था। उग्रवादी आवेदन–निवेदन को प्रभावी नहीं मानते थे। वे इसे राजनीतिक भिक्षावृति की संज्ञा प्रदान करते थे। उग्रवादी नेताओं ने स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा को अपने मिशन का आधार बनाया। तिलक उग्रवादी आन्दोलन के मूल अगुवाकार थे। उन्होनें स्वराज्य मेरा जन्मसिद्व अधिकार है, मैं इसे लेकर ही रहूॅंगा जैसा मंत्रघोष देशवासियों को प्रदान किया। उनके इस उद्घोष से देश की युवापीढ़ी को नवोन्मेष प्राप्त हुआ, महाराष्ट्र में शिवाजी तथा गणपति उत्सव संचालित कर तिलक ने युवाओं को राष्ट्रीय धारा से जोड़ने का प्रयास किया। उन्होनें निष्क्रिय प्रतिरोध की पद्वति अपनायी। लाला लाजपत राय विपिन चन्द्र पाल तथा अरविंद घोष ने तिलक का कन्धे से कन्धा मिलाकर साथ दिया। 1906 से 1919 तक के काल मे उग्रवादी आन्दोलन से राष्ट्रीय आन्दोलन के एक नया आयाम मिला।

स्वाधीनता आन्दोलन में उग्रवादी विभूतियों के योगदान का आरेख बहुत ऊँचा रहा है, उसे नकारा नही जा सकता है, बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिन चन्द्र पाल तथा अरविंद घोष जैसे उग्रवादी नेताओं की भूमिका श्लाघ्य एवं वरेण्य रही है। उग्रवादी उदारवादियों की कार्य पद्वति को उपयुक्त नहीं मानते थे। वे उसे राजनैतिक भिक्षावृत्ति की संज्ञा प्रदान करते थे। उग्रवादियों का आवेदन–निवेदन की नीति पर विश्वास नही था, उन्होनें सांविधानिक पद्वति को भारतीय स्वाधीनता के लिए प्रभावी नही माना। उनका मानना था कि प्रार्थना, प्रतिवेदन और प्रतिनिधिमण्डल के माध्यम से आजादी मिलने वाली नहीं है, इसके अतिरिक्त उदारवादी नेता भारत में पूर्ण स्वाधीनता या स्वराज्य की मांग भी नही रख रहे थे। इसके विपरीत उग्रवादी नेताओं में बाल गंगाधर तिलक ने देशवासियों को स्वराज्य का संदेश देते कहा था कि स्वराज्य मेरा जन्म सिद्व अधिकार है, मैं इसे लेकर ही रहूँगा। उग्रवादी नेताओं ने भारतीय आजादी के संघर्ष को चार स्तम्भो पर खड़ा कर दिया था वे स्तम्भ थे– स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्य। तिलक ने स्वराज्य का नारा देकर भारतीयों के मानस को एक नया आयाम दिया, लाला लाजपतराय तथा विपिन चन्द्र पाल ने तिलक का पूरा साथ दिया।

इस तरह उग्रवादी विचारधारा ने भारतीयों में नया जोश तथा उत्साह पैदा कर दिया। उनकी निष्क्रिय प्रतिरोध की अवधारणा ने भी अपना रंग दिखाया। तिलक ने उदारवादी नेताओं के स्वाधीनता आन्दोलन को जो सिमट कर केवल शिक्षित और मध्यम वर्ग तक रह गया था, उसे जन–आन्दोलन बनाया, स्वातन्त्र्य संघर्ष से उन्होनें जन सामान्य को जोड़ा, यह उनकी बहुत बड़ी उपलब्धि एवं उपादेयता थी, जिसे नकारा नहीं जा सकता।

वैसे तो स्वराज्य की अवधारणा के सम्बन्ध के वैसे इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं कि उदारपंथियों ने भी इसके सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये, दादा भाई नौराजी, फिरोज शाह मेहता, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी तथा बदरूद्दीन जैसे नरमपंथियों ने उदारवादी विचारधारा में स्वराज्य का उल्लेख किया, उनकी स्वराज्य की अवधारणा अधूरी और अस्पष्ट थी। इसलिये स्वराज्य के सम्बन्धम में उनके अनुदाय को महत्व नही मिला। उग्रवादी नेताओं ने स्वराज्य की विचारधारा को अपनी राजनीतिक पद्वति में पूरी तरजीह दी, इसके अतिरिक्त उन्होनें इस अवधारणा का सरलाश्य कर सीधे इसे जनता से जोड़ा। आजादी की मॉग स्वराज्य पर आधारित की। लोकमान्य बाल गंगाधर ने पूर्ण स्वाधीनता की मांग का दूसरा नाम स्वराज्य बतलाया उन्हें स्वराज्य का मंचदाता कहा गया। कुछ क्षेत्रों में यह कहा गया कि तिलक ने 1916 में स्वराज्य की धारणा में थोड़ा सा परिवर्तन कर दिया और ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति नरम रूख रखा। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि उन्होनें 1916 में स्वराज्य के सम्बन्ध में अपने जो विचार दिये, वे देश, काल और परिस्थितियों के अनुकूल थे उससे यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता है। कि उन्होनें अपनी पूर्व धारणा में कोई बदलाव किया था। वे तब भी पूर्ण स्वाधीनता की मॉंग पर डटे हुए थे।

इस तरह से यह कहा जा सकता है कि उग्रवादियों ने स्वाधीनता आन्दोलन में जिन चार स्तम्भो का उल्लेख किया था उनमें चौथा सूत्रीय कार्यक्रम स्वराज्य था। उन्होनें स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा एवं स्वराज्य नामक अपना चतुष्पदीय राजनीतिक कार्यक्रम रखा था, इसके साथ ही तिलक ने देशवासियों को स्वराज्य का संदेश देते हुए यह मंत्र बीज दिया था कि स्वराज्य आपका जन्मसिद्व अधिकार है। इससे पूरे देश में नवोन्मेष की भावना जाग्रत हुयी थी। निष्कर्षतः यंह कहा जा

सकता है कि उग्रवादियों की स्वराज्य का अवधारणा को लोकाभिमुख करने में अह्म योगदान था।

उदारवादी तथा उग्रवादी अनुदाय के तुलनात्मक मूल्यांकन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उदारवादी तथा उग्रवादी दोनो ही विचारधाराओं के अगुवाकारों का अपने–अपने क्षेत्र में योगदान प्रभावपूर्ण रहा, उदारवादी नेताओं ने जहाॅ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए आधारभूमि का कार्य किया, वही उग्रवादी नेताओ ने आन्दोलन को स्वराज्य का सहारा देकर उसे प्रभावी तथा जनवादी बनाया। स्वराज्य का लोक बोध कराना उग्रवादियों की एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी, जिसे विस्मृत नहीं किया जा सकता।

दोनो ही प्रकार के आन्दोलनकारियों की विचारधारा एवं कार्य पद्वति में जिन साधनों का उल्लेख है, उनमें आन्दोलन के अग्रसारण की क्षमता तो अवश्य थी किन्तु उग्रवादियों की विचारधारा अधिक कारगर सिद्व हुई। उन्होनें उसमें स्वदेशी बहिष्कार राष्ट्रीय शिक्षा तथा स्वराज्य का समावेश कर उसे जनता से जोड़ने का अधिक प्रयास किया, यही उग्रवादी आन्दोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जाती है।

उग्रवादी नेताओं ने उदारवादी राजनीति को राजनीतिक भिक्षावृत्ति तो कहा किन्तु उसे काल की राजनीति में देश काल और परिस्थिति की बेड़ियाॅ पड़ी हुई थी। उदारवादी आन्दोलनकारी इससे अधिक कुछ कर भी नही सकते थे, क्योकि समय इससे अधिक उन्हें कुछ भी करने की अनुमति नहीं दे रहा था। इस तरह से निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि उदारवादी तथा उग्रवादी दोनों ही प्रकार विचारधाराओं ने अपने–अपने ढंग से राष्ट्र की सेवा में हाथ बटाया, उसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने में मदद प्रदान की।

परिशिष्ट

दादा भाई नौरोजी
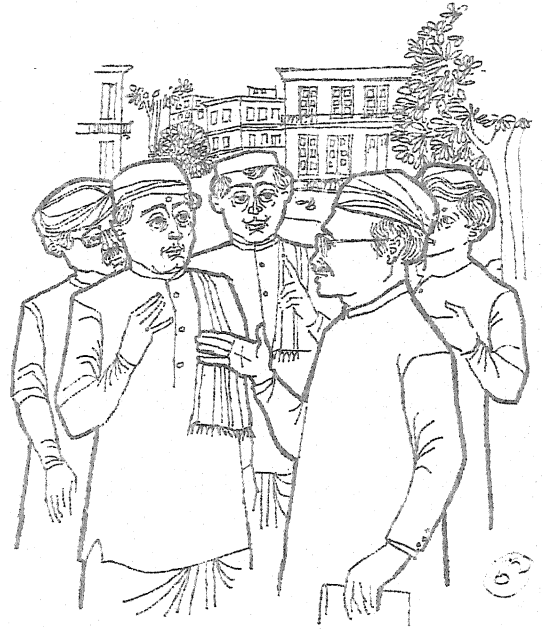
सार्वजनिक जीवन में प्रवेश
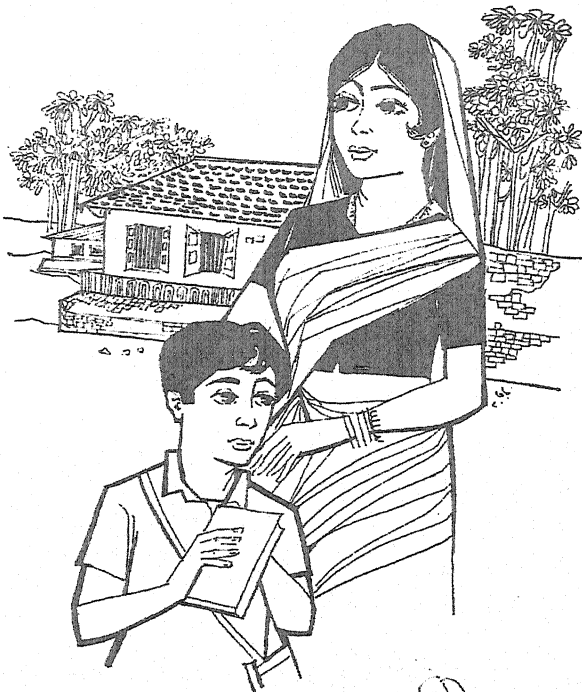
नौरोजी का बाल चित्र

दादा भाई का राजनीति में प्रवेश
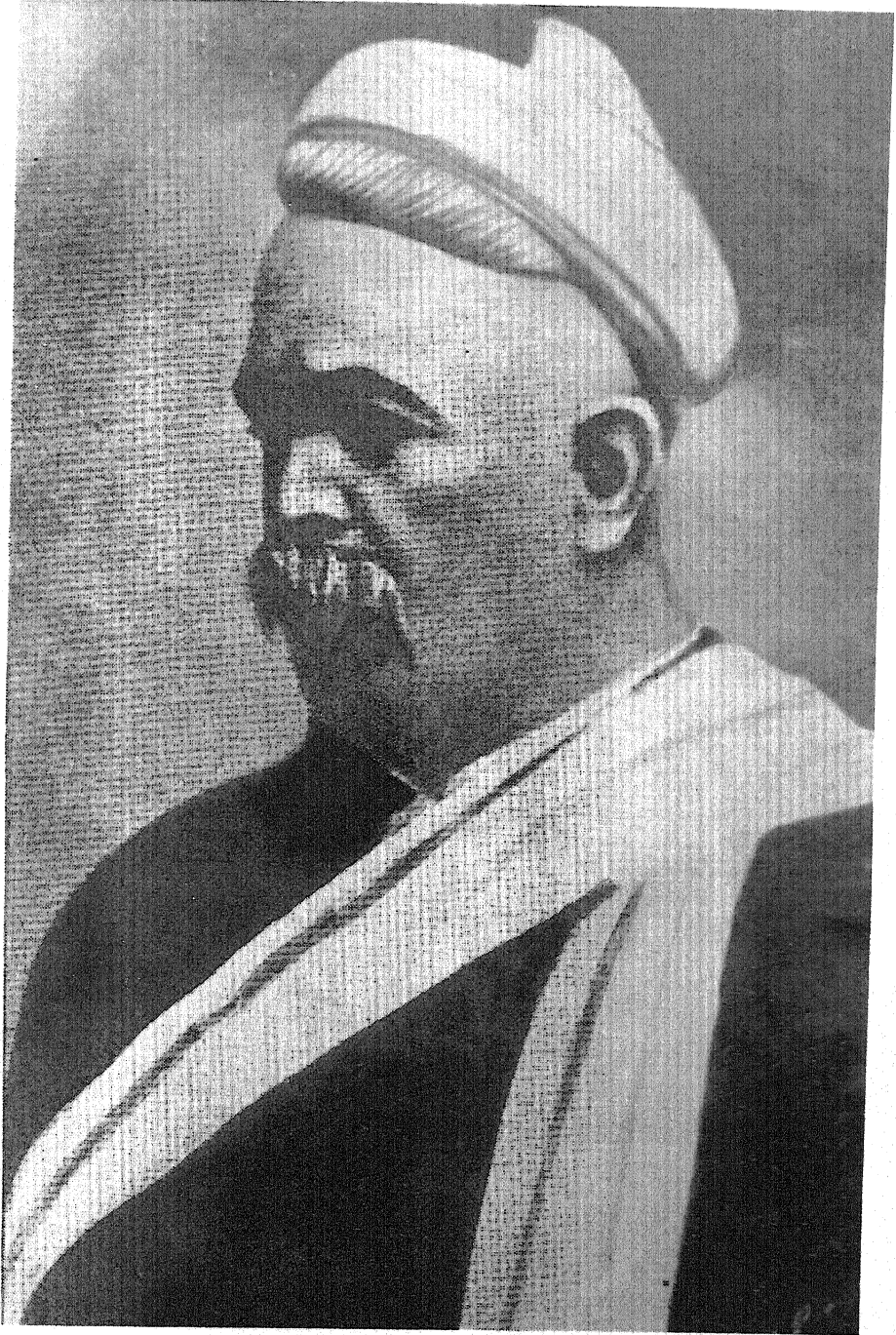
महादेव गोविन्द रानाडे

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

गेपाल कृष्ण गोखले

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी
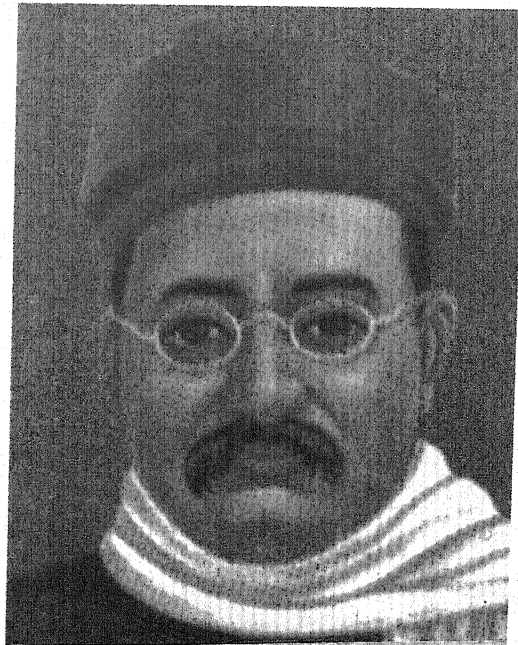
गेपाल कृष्ण गोखले

बाल गंगाधर तिलक

लाला लाजपत राय

लाला लाजपत राय का एक दुर्लभ चित्र

विपिन चन्द्र पाल
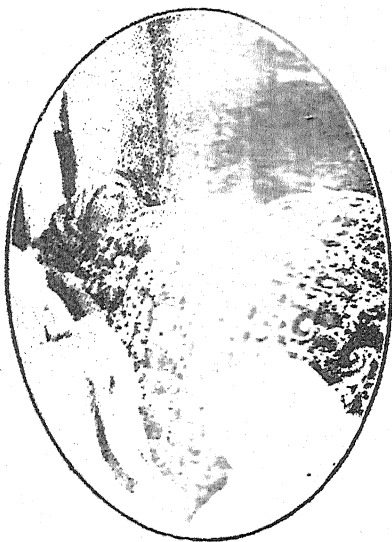
लाला लाजपत राय के निधन के बाद का एक दुर्लभ चित्र

ग्यारह वर्षीय अरविन्द घोष
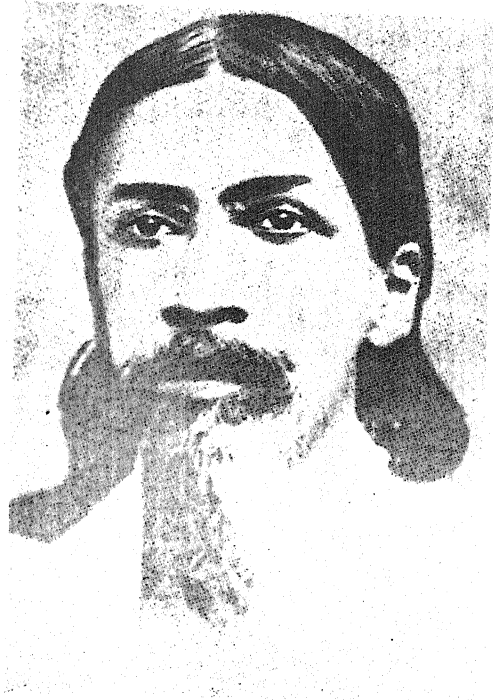
पांडिचेरी में श्री अरविन्द घोष
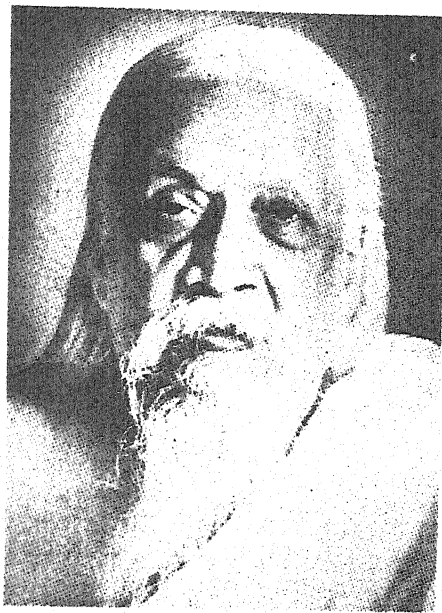
श्री अरविन्द घोष के निधन के पूर्व का एक चित्र

संदर्भ ग्रन्थ

हिन्दी संदर्भ ग्रन्थ

1 कालभोर, गोपीनाथ, गोपालकृष्ण गोखले, जीवन और दर्शन, जयपुर, ज्योति प्रकाशन, 2003।

2 तिवारी, विनोद कुमार, गोपाल कृष्ण गोखले, दिल्ली सन्मार्ग प्रकाशन 2004 ।

3 देव गिरीकर त्र्यंबकर रघुनाथ, गोपाल कृष्ण गोखले, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1995।

4 विद्याप्रकाश, देश जिनका ऋणी है, दिल्ली, आकाशदीप पब्लिकेशन्स, 2005 ।

5 गिरिराज शरण, तिलक ने कहा था, नई दिल्ली, प्रतिभा प्रतिष्ठान, लखनऊ 2002 ।

6 जोग, एन0जी0, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1997 ।

7 शर्मा विष्णुचन्द्र, स्वराज्य के मंत्रदाता तिलक, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार 2000 ।

8. तिवारी, रीमा, शेर ए पंजाब लाला लाजपत राय, नई दिल्ली, सूर्योदय प्रकाशन, 2006 ।

9 शर्मा, श्रीराम, लोकमान्य तिलक, दिल्ली, आत्माराम एण्ड सन्स, 2000।

10 फिरोज चन्द, लाला लाजपतराय, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना

एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1987 ।

11 गुप्त, आशा, बाल गंगाधर तिलक, दिल्ली, आत्माराम एण्ड संस, 2001।

12 मित्तल, नेमिशरण, गोपाल कृष्ण गोखले, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 2002 ।

13 चौहान, लाल बहादुर सिंह, पंजाब केसरी लाला लाजपत राय, दिल्ली, आत्माराम एण्ड संस 2006 ।

14 लाला लाजपतराय, लाला लाजपतराय ग्रंथावली, खण्ड 01 से 11 तक, दिल्ली, संस्कार प्रकाशन, 2006 ।

15 विनोद कुमार, भारत के गौरव भाग 01, 02, 03, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 2006 ।

16 सतीश कुमार, उदारवाद और गोपाल कृष्ण गोखले वाराणसी, वि0वि0 प्रकाशन, 1983 ।

17 ब्रनवाल, डॉ0 गणेश प्रसाद, स्वाधीनता संग्राम से सत्ता हस्तान्तरण, दिल्ली, आत्माराम एण्ड सन्स, 1999 ।

18 श्याम, डॉ0 सीताराम झा, भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम की रूपरेखा, पटना, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी 1981 ।

19 नारायण, गंगाधर, भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, वाराणसी, हिंदी प्रसारण संस्थान, 1989 ।

20 पाठक, डॉ0 सुशील माधव, भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन का इतिहास, पटना, बिहार हिंदी गंथ्र अकादमी, 1988 ।

21 चोपड़ा, पी0एन0, भारत का स्वाधीनता संग्राम, नई दिल्ली, प्रकाशन

विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 2005 ।

22 देसाई ए0आर0, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मद्रास मैक मिलन इण्डिया लि0 1881

23 पार्थ सारथी, आर0 के कामराज, नई दिल्ली,,प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार 1986 ।

24 पट्टाभिराम, मामिडपुडी, डॉ0 पटटाभिसीता रमैया, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार 1986 ।

25 टैगोर, सौम्येन्द्रनाथ, राजाराम मोहन राय, नई दिल्ली, साहित्य अकादमी, 1982 ।

26 बोस, एन0के0 तेजबाहदुर सप्रू, नई दिल्ली प्रकाश्न विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1985 ।

27 घोष विनय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1981 ।

28 शर्मा, रामविलास, स्वाधीनता संग्राम, बदलते परिप्रेक्ष्य, दिल्ली, वि0वि0 हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, 1992 ।

29 त्रिपाठी, कमलापति स्वतंत्रता आन्दोलन और उसके बाद, दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स, 1988 ।

30 बोस, एस0के0 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, 2006 ।

31 अवस्थी और अवस्थी, डॉ अमरेश्वर डॉ0 रामकुमार, नई दिल्ली, रिसर्च पब्लिकेशन्स 1997 ।

32 चतुर्वेदी, बनारसी दास, भारत भक्त ऐण्ड्रयूज नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1980 ।

33 वर्मा, गोविंदराम, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, मद्रास मैकमिलन इण्डिया लि0 1977 ।

34 चंचरीक, कन्हैयालाल, महात्मा ज्योतिबा फुले, नई दिल्ली, प्रकाशन सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1988 ।

35 वर्मा, डॉ0 वी0पी0, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, आगरा, लक्ष्मी नारायन अग्रवाल, 1998 ।

36 शेठना शेराशेद अदी मैडम भिखई जी रूस्तम, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1992 ।

37 नवजात, श्री अरविंद, नई दिल्ली, नेशनल बुक ट्रक्ट, 1972 ।

38 गांधी, हिन्दी स्वराज्य वाराणसी, सर्वसेवा संघ 1982 ।

39 नारायण, जय प्रकाश, लोकस्वराज्य, वाराणसी सर्वसेवा संघ, 1977 ।

40 दत्त, रजनी पाम, आज का भारत, मद्रास, मैकमिलन, इण्डिया लि0, 1985 ।

41 कश्यप, डॉ0 सुभाष, स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, दिल्ली वि0वि0, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, 1997 ।

42 नूरानी, ए0जी0, बद्रूद्दीन नैयब जी, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1974 ।

43 मोदी, होमी, फिरोजशाह मेहता, नई दिल्ली प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1973 ।

44 जागीरदार, पी0जे0, महादेव गोविंद रानाडे, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1981 ।

45 जैन, डॉ0 पुखराज, भारत में स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, आगरा, साहित्य भवन, 1983 ।

46 मुखर्जी, अरूण कुमार, केशव चन्द्र सेन, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1995 ।

47 कुलकर्णी, वी0बी0, एम0 आर0 जयकार, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1984 ।

48 सिंह, अयोध्या भारत का मुक्ति संग्राम, मद्रास, मैकमिलन इण्डिया लि0, 1987 ।

49 बेग, तारा अली, सरोजनी नायडू, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1981 ।

50 सेठ, डॉ रवीन्द्र कुमार, सुब्रह्मण्य भारती, नई दिल्ली प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1988 ।

51 दादा, धर्माधिकारी, सर्वोदय, वाराणसी सर्व सेवा संघ प्रकाशन, 1983 ।

52 जैन, पुखराज, भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन तथा भारतीय संविधान, आगरा, साहित्य भवन, 1995 ।

53 सिंह, राजेन्द्र प्रसाद, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन, वाराणसी, वि0वि0 प्रकाशन, 1988 ।

54 जैन, पुखराज, राजनीति विज्ञान, आगरा साहित्य भवन, पब्लिकेशन्स, 2004 ।

55 चर्तुवेदी, जगदीश प्रसाद, प्रवासी क्रांतिकारी, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1985 ।

56 भाई नरेन्द्र, स्वतंत्रता संग्राम, वाराणसी, सर्व–सेवा–संघ प्रकाशन, 1979 ।

57 मुंशी, सरजू नरायण, स्वतंत्रता के मार्गदर्शक, दादाभाई नौरोजी, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1996 ।

58 चटर्जी, सरल कुमार, विपिन चन्द्र पाल, नई दिल्ली प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1997 ।

59 अय्यर, सी0पी0 रामास्वामी, ऐनीबेसेण्ट, नई दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 1981 ।

अंग्रेजी संदर्भ ग्रंथ सूची

1 Gupta, Manmoth Nath, they lived – Dangerously, Hyderabad, Hindi Prachar Sabha, 1983

2 Mazumdar, R.C. , History of freedom Movement, part-1, Culcutta, Firlma K L, Gangula Street, 1977

3 Sharma, S.R. Freedom Movement Delhi, B.R. Publishing corporation 1988

स्मारिका, पत्र पत्रिकायें, पाण्डुलिपियाँ एव अन्य रिपोर्टस

1 अग्रवाल, डोरीलाल एवं अन्य (संपादक मण्डल) आगरा, शहीद भगत सिंह स्मारक समिति, 4, 5, 6 अप्रैल 1986 ।

2 अवस्थी, राजेन्द्र (संपादक) साप्ताहिक हिन्दुस्तान, स्वाधीनता विशेषांक, दिल्ली, हिन्दुस्तान टाइम्स प्रकाशन, 17 से 23 अगस्त 1986 ।

3 गणेश मंत्री (कार्यकारी संपादक), धर्मयुग, सम्पूर्ण स्वतंत्रता संग्राम भागदो) बम्बई टाइम्स आफ इण्डिया, प्रेस, 14 से 20 अगस्त 1988

4 अग्रवाल, अनिल कुमार (प्र0 संपादक) अमर उजाला, आगरा, 15 अगस्त 1989